संवर्द्धिणी

वर्ष - २०१५ | विक्रम सम्वत् - २०७२ | अंक - ७

इस वर्ष की प्रकाशित पुस्तकें

चारों वेदों में 20379 मन्त्र हैं, पर उन सभी मन्त्रों का अर्थसहित स्वाध्याय करना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसलिये पाठकों की सुविधा के लिये चारों वेदों में से सौ-सौ मन्त्रों का संकलन कर, उन सभी मन्त्रों के ऋषि-देवता-स्वर-छन्द के साथ-साथ मन्त्रों को सरलता से पढ़ने के लिये पदच्छेद तथा उसी के क्रमानुसार शब्दार्थ और उसके सरल भावार्थ को पृथक्-पृथक् चार शतकों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्वाध्यायशील पाठकजनों को ये चारों शतक अत्यन्त ही लाभकारी सिद्ध होंगे। कर्मकाण्ड के निमित्त भी इन चारों शतकों के मन्त्रों का प्रयोग यथा-समय किया जा सकता है।

चारों शतकों का सम्पूर्ण सैट मूल्य - 200 रु०

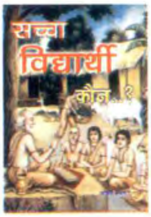

बाल्यकाल में यदि समस्त कर्त्तव्यों के प्रति उचित जानकारी प्राप्त हो जाय, तो निश्चित ही विद्यार्थी-जीवन श्रेष्ठ बन सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में विद्यार्थियों के दोष और उनके कर्त्तव्यों का वर्णन कर, श्रेष्ठ विद्यार्थी बनने तथा सफलता को प्राप्त करने का सम्यक् दिग्दर्शन कराया गया है।

मूल्य - 20 रु०

वेद मनुष्य-मात्र का धर्म-ग्रन्थ व ईश्वरीय-ज्ञान है। परन्तु मत-मतान्तरों के अपने-अपने मन्तव्यों के कारण हम ईश्वरीय-ज्ञान वेद के स्थान पर मनुष्य-कृत ग्रन्थों को अपना धर्म-ग्रन्थ मानने लगे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने **बाल-संस्करण** प्रवचन-शैली में लिखकर यह सिद्ध किया है कि वेद ही ईश्वरीय-ज्ञान व धर्म-ग्रन्थ है। मूल्य - 20 रु०

पञ्च-महायज्ञ की समस्त याज्ञिक विधियों के साथ-साथ प्रस्तुत पुस्तक में **जन्मदिन, विवाह-दिवस, पापनाशक मन्त्र, व्यापारवर्द्धक मन्त्र, आरोग्य प्राप्ति मन्त्र** तथा कुछ **अन्य विशिष्ट मन्त्रों** का भी समावेश किया गया है। पुस्तक याज्ञिक महानुभावों के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

मूल्य - 25 रु०

सार्वदेशिक धर्मार्य-सभा द्वारा स्वीकृत यज्ञपद्धति पर आधारित पञ्चमहायज्ञ की अनुपम पुस्तक है, जिसमें **सन्ध्या, देवयज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ, पितृयज्ञ** तथा **अतिथियज्ञ** के साथ-साथ उपयोगी भजनों का भी समावेश किया गया है। पुस्तक याज्ञिक महानुभावों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। मूल्य - 20 रु०

ओ३म्

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ॥

हम कल्याण मार्ग के पथिक बनें।

संवर्द्धिनी

वर्ष - 2015 विक्रम सम्वत् - 2072 अङ्क - 7

सम्पादक :-

आचार्य श्याम

दूरभाष - 09811064932, 09350233885

सह-सम्पादक :-

डा० कर्णदेव शास्त्री

दूरभाष - 09810322989

संचालक :-

रवि कोहली

दूरभाष - 09810106176

कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

जी-150, नारायण विहार, नई दिल्ली-28

दूरभाष - 0935073344, 09350233885

प्रधान कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, नई दिल्ली-59

E-mail - samvardhini@yahoo.co.in
dharm.samvardhini@gmail.com

Website - www.dharmsamvardhini.com

कहाँ क्या पढ़ें ? ....

1. मातृ-स्तवकम्	पृष्ठ-2
2. सम्पादकीय	पृष्ठ-3
3. वेदामृतम्	पृष्ठ-5
4. अथर्ववेद में आयुर्वेदीय चिकित्सा-विज्ञान	पृष्ठ-15
5. 'श्रमेव जयते' श्रम से ही सम्पूर्ण विजय	पृष्ठ-18
6. नाद ब्रह्म "ओ३म्"	पृष्ठ-21
7. अधर्म क्या है ?	पृष्ठ-24
8. भारतीय संस्कृति की विशेषताएं	पृष्ठ-25
9. भगवान् बुद्ध उवाच	पृष्ठ-27
10. ऋषि दयानन्द की आध्यात्मिक देन	पृष्ठ-28
11. सन्तवाणी का महत्त्व तथा उपयोग	पृष्ठ-31
12. लौकी जूस - एक अमृत पेय	पृष्ठ-33
13. महात्मा का उपेदश	पृष्ठ-36
14. महर्षि दयानन्द और राष्ट्रभाषा	पृष्ठ-38
15. संसार की बड़ी शक्ति - 'प्रेम'	पृष्ठ-41
16. इन्सान बनकर जी (कविता)	पृष्ठ-43
17. पेट के कीड़ों की मारक औषधियां	पृष्ठ-43
18. ताज़महल मन्दिर है, मस्ज़िद नहीं	पृष्ठ-44
19. जीवन में समर्पण का महत्त्व	पृष्ठ-46
20. शिक्षादान ही महादान	पृष्ठ-48

ओ३म्

मातृ-स्तवकम्

रात्रि मातरुषसे नः परि देहि।
उषा नो अह्ने परि ददात्वहस्तुभ्यं विभावरि ॥

(अथर्ववेद 19/48/2)

[गोपथ ऋषिः। रात्रिर्देवता। त्रिपदा विराड् अनुष्टुप् छन्दः]

रात्रि माँ !!!! ममता भरी,
सुख-शान्ति वरद विभावरी ॥

दिवस के श्रम में थकूँ जब, तू मुझे गोदी उठाना।
लोरियाँ मुझको सुनाकर, गोद में अपनी सुलाना।
रात्रि माँ ! ममता भरी.... ॥ 1 ॥

उदय बेला में उषा की, गोद में नव प्राण पाऊँ।
सूर्य-रथ पर बैठ फिर से, कार्य से मैं जूझ जाऊँ।
रात्रि माँ ! ममता भरी.... ॥ 2 ॥

ज़िन्दगी के इस सफ़र में, नित्य ही बढ़ता रहूँ मैं।
गोद में ही प्रकृति माँ के, जन्म-भर चलता रहूँ मैं।
रात्रि माँ ! ममता भरी.... ॥ 3 ॥

(डॉ0 सत्यकाम विद्यालङ्कार)

सम्पादकीय

धर्म संवर्द्धिनी सभा जिस उद्देश्य को लेकर स्थापित की गई थी, उसके कार्यकर्त्ता अपने परिश्रम से सभा के कार्यों को करने में निरन्तर संलग्न हैं, इसके लिये मैं सर्वप्रथम उन सभी कार्यकर्त्ताओं का आभारी हूं, जिन्होंने अपने तन-मन-धन की आहुति देकर इस पौधे को सिञ्चित करने का प्रयास किया है। सभा के कार्यों का विस्तार धीरे-धीरे होता जा रहा है। जितना-जितना कार्यों का विस्तार होता है, उतनी-उतनी जिम्मेदारियां तथा उतना ही उन कार्यों में धन-व्यय भी होता है। धर्म संवर्द्धिनी सभा पहले प्रत्येक रविवार को मधुविहार में बाल कक्षा का आयोजन करती थी, अब उत्तम नगर शाखा ने भी अपनी एक कड़ी को जोड़ा है। वहां प्रत्येक रविवार को लगभग 70-80 बच्चे आ कर धर्म-शिक्षा प्राप्त करते हैं। सभा द्वारा चलाई गई पूर्व की गतिविधियां यथावत् चल रही हैं, अब उनको इस वर्ष कुछ और विस्तार करने की योजना है। प्रथम यह कि - बालकों को किसी प्रमुख स्थान पर धार्मिक-साहित्य भी पढ़ने को मिले, क्योंकि विद्यालयों वा घरों में धार्मिक साहित्य का अत्यन्त अभाव है। इस अभाव को पूरा करने के लिये इस वर्ष एक पुस्तकालय का शुभारम्भ करने की योजना है। उस कार्य को शीघ्र ही पूरा करने का प्रयास किया जा रहा है। दूसरा कार्य है - ग़रीब बालकों के लिये निःशुल्क कम्प्यूटर शिक्षा। जिससे बच्चे अपने बचपन में इस शिक्षा को बिना धन व्यय के प्राप्त कर सकें। आज कम्प्यूटर का प्रयोग हर क्षेत्र में हो रहा है। प्रगतिशील भारत का कोई विभाग ऐसा नहीं, जहां कम्प्यूटर की आवश्यकता न होती हो। जब हमारे जीवन के साथ कम्प्यूटर जुड़ ही गया है, तो हमारा प्रयास यह होना चाहिये कि जिन परिवारों में बच्चे आर्थिक अभाव के कारण कम्प्यूटर आदि साधन नहीं खरीद सकते, वे हमारे केन्द्र पर आकर उन उपकरणों को चलाना सीखें, और भविष्य में सबके साथ कदम से कदम मिलाकर चलने को तैयार हों। वर्ष 2015 में इन दोंनों योजनाओं को अन्तिम रूप देने का पूर्ण प्रयास किया जा रहा है।

वर्ष 2015 अथवा 2016 में एक विशिष्ट-यज्ञ करने की भी योजना है। वह कार्यक्रम एक विशेष योजना को दृष्टिगत रखते हुए किया जायेगा। यजमानों को एक विशेष यज्ञ करने का उस समय ऐसा अवसर मिलेगा कि शायद ऐसा यज्ञ आपको दिल्ली जैसे महानगर में अन्यत्र ही देखने को मिला हो। उस यज्ञ के बाद विशेष सभा का आयोजन किया जायेगा, जिससे जनमानस में यज्ञ के प्रति श्रद्धा और धर्म की वृद्धि के प्रति भाव पैदा हो सकें। उसकी तिथियां जैसे ही निश्चित कर ली जायेंगी, आपको सूचित किया जायेगा। पर आप अभी से मनःस्थिति तैयार कर लें, कि उस यज्ञ के आयोजन को तन-मन-धन से आपने सफल बनाना है।

बड़े सदस्यों के धर्म-ज्ञान में कुछ वृद्धि हो, इसके लिये हम कुछ कक्षायें लगाने की योजना तैयार कर रहे हैं। दिल्ली महानगर में स्थित समाज की विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थाओं के साथ जुड़कर इस कार्य योजना को शीघ्र ही पूरा करने का प्रयास किया जायेगा, ताकि प्रौढ़ों व वृद्धों के धार्मिक ज्ञान में वृद्धि हो। क्योंकि **'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** ज्ञान के समान इस संसार में आत्मा को पवित्र करने का अन्य और कोई माध्यम नहीं है।

इसके अतिरिक्त हमने अपने घर बैठे स्वाध्याय-यज्ञ के माध्यम से ज्ञान वृद्धि की योजना पिछले वर्ष प्रारम्भ की थीं, कुछ लोगों ने उन योजनाओं से जुड़ने का प्रयास भी किया है, आशा है कि इस वर्ष भी कुछ संस्थाओं के प्रतिनिधि इन सद्ज्ञान वृद्धि की प्रतियोगिताओं में भाग लेकर, अपने ज्ञान की अवश्य ही समृद्धि करेंगे। ये प्रतियोगितायें सत्यार्थ-प्रकाश, उपदेश मंजरी, श्रीमद् भगवत्गीता, रामायण तथा अन्यान्य ग्रन्थों पर आधारित होती हैं। हमारा उद्देश्य है कि इन प्रतियोगिताओं से आपके ज्ञान में इन सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय से अभिवृद्धि हो।

इस वर्ष इस योजना को हम विद्यालयों तक भी ले जाने का प्रयास कर रहे हैं, आशा है कि आपका सहयोग हमें इस कार्य को करने की शक्ति अवश्य ही प्रदान करेगा।

समाज-सुधार के कार्य अनेकों हैं, यदि आप सुधारवादी दृष्टि से समाज को देखें, तो आपको लगेगा कि हमारे पास धन कम है, कार्यकर्त्ता कम हैं, शक्ति कम है, पर समाज सुधार के कार्य अनेकों हैं। हमारी सभा जिन कार्यों को कर रही है, वे कार्य और अधिक शक्ति के साथ आगे किये जा सकें, इसके लिये बस आवश्यकता है - धन-शक्ति और जन-शक्ति की। यह ठीक है कि बिना धन के कोई कार्य करना सम्भव नहीं है, पर यह भी उचित है कि बिना कार्यकर्त्ताओं के भी कोई कार्य नहीं किया जा सकता। धन के अभाव को आप दान मांग करके भी पूरा कर सकते हैं, पर यदि धार्मिक कार्यों को करने के लिये कार्यकर्त्ता न हों, तो ये धार्मिक कार्य वृद्धि-समृद्धि को कभी प्राप्त नहीं हो सकते। इसलिये मैं आह्वान करना चाहता हूं उन धनी दाताओं का, जो धर्म के कार्यों में अपनी आहुति लगाने का स्वप्न संजोये बैठे हैं, पर उससे भी अधिक आह्वान करना चाहूंगा उन भाई-बहिनों को, जो धार्मिक कार्यों के लिये अपने समय की आहुति दे सकते हैं। आप सप्ताह में इस सेवा के लिये कुछ समय निकालें। सप्ताह में न हो तो प्रत्येक मास में कुछ समय का दान करें। प्रत्येक मास में समय न दे सकें, तो वर्ष में कुछ समय उन धर्म कार्यों के लिये, अनाथ-ग़रीब बच्चों के भविष्य को संवारने के लिये अवश्य निकालें, जिनको आपके सम्बल की आवश्यकता है। आपका सहयोग तन-मन-धन से यदि हमें मिलता रहा, तो इन समाज-सुधार के प्रकल्पों के स्वप्न को हम साकार करने का अवश्य प्रयत्न कर सकते हैं, जिससे भारत मां की गोदी में जन्म लेने वाले प्रत्येक अनाथ-ग़रीब बालक-बालिकाओं का भविष्य उज्ज्वल हो सके।

❑

वेदामृतम्

आचार्य श्याम

तृदिला अतृंदिलासो अद्रंयोऽश्रमणा अशृंथिता अमृत्यवः। अनातुरा अजराः स्थामंविष्णवः सुपीवसो अतृंषिता अतृंष्णजः॥

(ऋग्0 10/94/11)

(अर्बुदः काद्रवेपः सर्पः ऋषिः। ग्रावाणः देवता। विराट् जगती छन्दः। निषादः स्वरः)

पदच्छेद –

तृदिलाः। अतृदिलासः। अद्रयः। अश्रमणाः। अशृथिताः। अमृत्यवः। अनातुराः। अजराः। स्थ। अमविष्णवः। सुपीवसः। अतृषिताः। अतृष्णजः॥

शब्दार्थः –

(तृदिलाः) दुःखों के काटनेवाले, छिन्न-भिन्न करनेवाले **(अतृदिलासः)** स्वयं छिन्न-भिन्न न होनेवाले **(अद्रयः)** सम्मान के योग्य, पर्वत वा मेघ **(अश्रमणाः)** जो निकृष्ट नहीं हैं, अथवा श्रम से न थकनेवाले **(अशृथिताः)** शिथिलतारहित **(अमृत्यवः)** मृत्यु से रहित **(अनातुराः)** रोगरहित **(अजराः)** जरावस्थारहित **(स्थ)** होओ **(अमविष्णवः)** सदा गतिशील **(सुपीवसः)** स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट **(अतृषिताः)** तृष्णा से रहित अर्थात् सन्तोषी **(अतृष्णजः)** निस्पृह, अर्थात् मोह आदि विकारों से रहित।

भावार्थः –

हे विद्वान् मनुष्यो ! तुम अविद्यान्धकार को छिन्न-भिन्न करते हुए, स्वयं नष्ट न होने वाले, अर्थात् अभेद्य, सम्मान के योग्य पर्वत के समान दृढ़ और मेघ के समान उदार, श्रम से न थकनेवाले, आलस्य-प्रमाद व मृत्यु से रहित तथा रोग एवं जरावस्था से रहित होकर सदा गतिशील बनकर, स्वस्थ एवं सन्तोषी जीवन व्यतीत कर, मोहादि विकारों से पृथक् होकर जीवन की उच्चता अर्थात् मानव जीवन के लक्ष्य आनन्द को प्राप्त होओ।

व्याख्या : -

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'ग्रावाणः' है। ग्रावाणः का सामान्य अर्थ है - पर्वत या बादल होता है। परन्तु जब इस शब्द का लाक्षणिक अर्थ लिया जायेगा, तब इसका अर्थ होगा - उच्चता, उदारता एवं नम्रता। उच्चस्थानीय मनुष्य के अन्दर यदि उदारता और नम्रता आदि गुण नहीं हैं तो फिर उसका कोई विशेष लाभ नहीं है। जिनके अन्दर ये तीनों प्रकार के गुण विद्यमान हैं, वह निश्चित ही 'देव' बन जाता है।

ऋग्वेद के इस मन्त्र में बारह गुणों की चर्चा की गई है। यदि वे सभी गुण किसी मनुष्य के जीवन में समाहित हो जायें, तो वह स्वयं जहां मानव-जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करेगा, वहां ऐसे देवत्त्व-कोटि के मनुष्य की उदारता से समाज व राष्ट्र का भी सर्वाङ्गीण कल्याण होगा। आइये, वेदमाता द्वारा बतलाये बारह गुणों पर हम एक चिन्तनात्मक दृष्टि डालें, और फिर इन गुणों को जीवन में धारण करने का प्रयत्न करें -

(1) तृदिलाः = तृदिलाः शब्द का अर्थ है - छिन्न-भिन्न करनेवाला, काटनेवाला, नष्ट करनेवाला। पर किसको ? तब उत्तर होगा - अविद्या, अज्ञान व अधर्म को। याद रखो, संसार में अविद्या ही एकमात्र ऐसा शत्रु है, जो व्यष्टि से लेकर समष्टि तक के समस्त दुःखों को उत्पन्न कर रहा है। महर्षि पतञ्जलि जी ने इसीलिये लिखा है -

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्त तनु विच्छिन्नोदाराणाम् ॥

(योगदर्शन 2/4)

अविद्यारूपी खेत के अन्दर ही प्रसुप्त, **तनु, विच्छिन्न** और **उदार** प्रकृतिवाले दुःखों का जन्म होता है।

आध्यात्मिक जगत् में समस्त दुःखों का मूल **अविद्या** ही माना गया है। यदि अविद्या न हो, तो फिर **अस्मिता-राग-द्वेष** और **अभिनिवेश** जैसे दुःख उत्पन्न ही नहीं हो सकते। जैसे बिना भूमि वा मिट्टी के किसी पौधे या वृक्ष का अस्तित्त्व सम्भव नहीं, उसी प्रकार बिना अविद्या के अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश नामक दुःखों का भी कहीं अस्तित्त्व नहीं। यदि हम सामाजिक धरातल पर दृष्टि डालें, और समस्त मानव समाज के दुःखों का मूल जानने की कोशिश करें, तो उसका मूल कारण आपको अविद्या ही प्रतीत होगी।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने इसी अविद्या और अधर्म को मिटाने के लिये सम्पूर्ण जीवन प्रयत्न किया और अपने जीवन की आहुति दी। भगवान् श्रीकृष्ण जी की तो सर्वदा यही कामना रही कि मैं जब-जब संसार में जन्म लूं, तब-तब अविद्या-अन्याय-अधर्म का सर्वनाश करूं। साधु सज्जन पुरुषों की रक्षा तथा दुष्ट-पुरुषों का विनाश करूं। जब तक व्यक्तिगत रूप से अविद्या का नाश नहीं किया जाता, तब तक न अपना कल्याण होगा और न समस्त मानव समाज का। इसलिये जीवन में उन्नति व कल्याण की चाहना रखनेवाले मनुष्य को चाहिये कि वह स्वयं के अविद्यान्धकार को दूर करे और यथा-सामर्थ्य समाज के अविद्या अन्धकार को भी दूर करने का प्रयत्न करे।

(2) अतृदिलासः = स्वयं छिन्न-भिन्न न होनेवाला, नष्ट न होने वाला। इसका अभिप्राय यह है कि समाज में व्याप्त अधर्म व अविद्या का विनाश करना जहां उसका धर्म है, वहां उसको यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वह अधर्म व अविद्या से स्वयं ग्रस्त न हो जाय। कभी-कभी हम दूसरों का सुधार करते-करते ऐसे स्थान पर खड़े हो जाते हैं कि हम दूसरों को तो सुधारने में रहवर बनकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देते हैं, परन्तु जिन बुराईयों को हम दूसरों के जीवन से निकालने का प्रयत्न करते हैं, वे बुराईयां स्वयं हमारे जीवन में प्रविष्ट कर जाती हैं। "दीपक तले अंधेरा" वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है। जैसे दीपक दूसरों को प्रकाश देता है, पर स्वयं के समीप अन्धकार होता है। यदि ऐसा है तो फिर तुम स्वयं का किञ्चित् कल्याण नहीं कर पाओगे। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि जहां हम दूसरों का सुधार कर उनका कल्याण करें, वहां हम संशय-भ्रम, नास्तिकता आदि दोषों से अपने आपको बचाने का हर क्षण प्रयत्न करें। महर्षि पतञ्जलि जी ने योग की साधना के मार्ग में आनेवाले नौ प्रकार के विघ्नों की चर्चा की है। उसमें संशय, प्रमाद, आलस्यादि दोषों की भी चर्चा इसीलिये की है कि यदि यह दोष किसी मनुष्य के स्वयं के जीवन में विद्यमान होंगे, तो उसकी स्वयं उन्नति रुक जायेगी।

आज वर्तमान समय में अनेकों ऐसे समाज-सुधारक देखने को मिलते हैं, जो दूसरों को अध्यात्म, भक्ति एवं साधना का मार्ग बतला रहे हैं, पर स्वयं उन भोगों में लिप्त हैं जो साधना व भक्ति के मार्ग में पूर्णरूप से बाधक हैं। ऐसे सुधारक का स्वयं का जीवन उन भोगों को भोगते-भोगते इतना पतित हो जाता है कि वह परमात्म-व्यवस्था से मानव जीवन के अधिकार को भी खो बैठते हैं। इसलिये जीवन का कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि समाज में फैले अविद्या-अधर्म-नास्तिकता आदि दोषों का जहां वह मर्दन करें, वहां वह यह भी ध्यान रखें कि विकाररूपी शत्रु उनके जीवन पर आक्रमण न कर दें। इसलिये उनको हर क्षण आत्म-निरीक्षण, परीक्षण व चिन्तन करते हुए अपने जीवन को शत्रुओं से बचाने का हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिये, तब कहीं मनुष्य जीवन का कल्याण होगा।

(3) अद्रयः = अद्रयः का सामान्य अर्थ है पर्वत या बादल। यदि पर्वत को ही लें तो यह ठीक है कि पर्वत उच्चता का प्रतीक है, पर यदि उसमें दृढ़ता न हो तो फिर उसकी उच्चता धराशायी हो जायेगी। इस आधार पर अद्रयः शब्द का अर्थ लिया जा सकता है - दृढ़ संकल्प वाला। जिस मनुष्य के व्रत दृढ़ होंगे, वह मनुष्य उन्नति कर सकता है। शिथिल व्रतोंवाला, शिथिल संकल्पवाला भला कैसे उन्नति करेगा ? आज आपने सन्ध्या करने का व्रत ले लिया, पर कल छोड़ दिया। आज आपने व्यायाम करने का व्रत ले लिया, पर कल व्रत को छोड़ दिया। ऐसे संकल्पवाले व कमजोर संकल्पवाले मनुष्य का कल्याण असम्भव है। इसलिये जीवन में कल्याण व उच्चता की कामना करनेवाले मनुष्य

को चाहिये कि वह शिव संकल्पवाला तथा दृढ़ संकल्पवाला बने, निश्चित ही उसका कल्याण होगा।

"अद्रयः" शब्द का दूसरा अर्थ है – मेघ अर्थात् बादल। हम सब जानते हैं कि मेघ–वृष्टि न करे तो फिर प्राणिमात्र को अन्न–वनस्पति भोज्य सामग्री कैसे प्राप्त हो ? पर इसके दूसरे पहलू पर विचार करें कि मेघ तब बनता है जब वह आदित्य की रश्मियों के द्वारा जल–वाष्प कणों को प्राप्त करता है, संचय करता है। जब उसके पास जलराशि संचित हो जाती है, तब वह कल्याण की कामना से वृष्टि कर देता है। इसका सीधा–सीधा संकेत हमारे जीवन के लिये यह है कि जीवन के कल्याण करनेवाले ज्ञानरूपी सद्गुणों को जहां से भी मिलें, उनको संचित करें, फिर अन्य मनुष्यों के कल्याणार्थ उदारता से वितरित करें। आदान–प्रदान सृष्टि का धर्म है। इसी सूत्र को अपनाकर हम जीवन में जिन भोग्य पदार्थों को सद्ज्ञान से प्राप्त करें? उसमें से कुछ भाग वितरित करने का अभ्यास हमें निश्चित ही उच्चता प्रदान करायेगा। इसलिये सारांश में अद्रयः शब्द का अभिप्राय है – दृढ़ संकल्पवाला, ज्ञान का अर्जन करनेवाला और उदारता से वितरण करनेवाला। यदि ये गुण किसी मनुष्य के जीवन में स्थापित हो जायें, तो वह अवश्य ही समुन्नति करेगा।

(4) अश्रमणाः = इस शब्द के दो अर्थ हैं – पहला है – जो निकृष्ट नहीं है, और दूसरा अर्थ होगा – श्रम से न थकनेवाला। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जीवन में सर्वाङ्गीण उन्नति करनेवाले मनुष्य को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कहीं वह निकृष्ट–कर्म न कर बैठे। जब–जब मनुष्य के जीवन में आलस्य–प्रमाद का प्रवेश होता है, तब–तब मनुष्य जानने के बाद भी अधर्म के पापकर्म कर बैठता है। यदि वह सावधान रहता, तो वह पापकर्म से बच जाता।

इसलिये वेद भगवान् सावधान कर रहा है कि निकृष्टता आसानी से आ जाती है, पानी नीचे की ओर आसानी से बह जाता है, पर ऊपर चढ़ाने के लिये अनेकों प्रकार के श्रमसाध्य कार्य करने पड़ते हैं। अरे ! यदि तूने तो जीवन को उच्च बनाने का संकल्प लिया है, तो फिर याद रख कि तेरे जीवन में आलस्य–प्रमाद न आये, तू सदैव उच्चता के लिये श्रम कर। "चरैवेति–चरैवेति" तू रुक मत, निरन्तर चलता रहा। तू चलते–चलते कभी थक गया हूं, अब विश्राम कर लूं, ऐसा मत सोच। ऐसा विचार मन में कभी मत आने दे। उन्नति के पथ पर बढ़नेवाले कभी रुकते नहीं हैं। सूर्य का प्रादुर्भाव जिस क्षण से हुआ है, क्या उसने कभी विश्राम करने की इच्छा से अपने कार्य को रोका ? क्या पृथिवी ने थककर अपने कार्य को त्यागा ? यदि नहीं, तो तू भी कर्त्तव्य का कभी त्याग मत कर, कभी विश्राम की इच्छा मत कर। जो श्रमसाध्य कर्म करनेवाले महान् पुरुष होते हैं, जब वे लक्ष्य को प्राप्त करते हैं, तब उन्हें उस लक्ष्य की प्राप्ति से जो सुख मिलता है, वह अवर्णनीय है। इसलिये कल्याण की कामना करनेवाले मनुष्य ! तू कभी थक मत, तू कभी आलस्य–प्रमादवश निकृष्ट कर्म मत कर। सदा कल्याण के पथ पर बढ़ता

चला जा, अवश्य ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी। इसी कारण से वेदभगवान् ने पुनः एक सन्देश दिया -

(5) अश्रृथिताः = शिथिल न होना। ढीला-ढाला व्यवहार होना। यह जीवन के लिये कभी श्रेष्ठ नहीं। जीवन बहुत छोटा है, लक्ष्य बहुत दूर है, यदि लक्ष्य प्राप्त करनेवाले के जीवन में शिथिलता आ गई, तो वह लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पायेगा। माना कि मनुष्य की न्यूनतम आयु सौ वर्ष है, पर सौ वर्ष प्रत्येक मनुष्य को क्या वह आयु मिल पाती है ? यदि हम थोड़ी देर के लिये भी यह मान भी लें कि हमारी आयु सौ वर्ष है, तो क्या हम सौ वर्ष तक कल्याण का कार्य कर सकेंगे ? उत्तर मिलेगा - नहीं। क्यों ? इसका उत्तर भर्तृहरि जी ने दिया है -

आयुवर्ष शतं नृणां परमितं रात्रौ तदर्धंगतं।
तस्यार्द्धस्यपरस्यचार्द्धमपरं बालत्त्ववृद्धत्त्वयोः।
शेष व्याधिवियोग दुःखसहितं सेवादिर्भिनीयते।
जीवेवारितरङ्गचंचलतरे सौख्यंकृतः प्राणिनाम्॥

(वै० श० 88)

अर्थात् - सौ वर्ष की आयु में पचास वर्ष रात्रि में व्यतीत हो गये। शेष 50 में से 25 वर्ष बचपन व वृद्धि में व्यतीत हो गये। शेष 25 वर्ष रोग-शोक, वियोग-व्याधि में कट गये। अरे मनुष्य ! जीवन तो जलतरङ्ग के समान चंचल है, इसमें सुख कहां ?

इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि आपने इस लघु-जीवन में से कुछ समय समझदारी से श्रेष्ठ कार्यों में खर्च किया, और उसमें यदि आपका शिथिलता वाला व्यवहार रहा, तो क्या आप उस कार्य को पूरा कर सकेंगे, जिसके लिये आपने संकल्प किया था ? यदि आप चाहते हैं कि मैं अपने संकल्प पर खरा उतरूं, मैं मनुष्य जीवन के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करूं, तो याद रखना कि श्रेष्ठ कार्य करने में शिथिलता मत लाना, अन्यथा लक्ष्य आप से कोसों दूर रह जायेंगा।

(6) अमृत्यवः = मृत्युरहित होना। हम सब जानते हैं कि जन्म के साथ मृत्यु भी जुड़ी हुई है। भगवान् श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा था -

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च॥

(गीता0 2/27)

जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु भी निश्चित है। आप कितने भी बड़े बलवान, धनवान्, विद्वान् क्यों न हो जायें, पर मृत्यु से नहीं बच सकते। तब प्रश्न होगा कि वेद भगवान् कहते हैं "**अमृत्यवः**" मृत्यु से रहित होना, यह कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर जानने के लिये हमें शान्तभाव से सर्वप्रथम यह विचार करना होगा कि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है, और जिसकी मृत्यु निश्चित है उसका जन्म भी निश्चित है, पर ये नियम सामान्य नियम है। परन्तु कुछ विशिष्ट आत्मायें संसार में ऐसी भी होती हैं, जिनको मृत्यु अपने वश में नहीं कर सकती। यदि वे संसार से प्रयाण करते हैं तो मृत्यु की इच्छा से नहीं, वरन् अपनी इच्छा से। परन्तु उन विशिष्ट आत्माओं के पास एक ऐसी संचित श्रेष्ठ पूंजी होती है, जिसके कारण वे मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। जिसके पास मुक्ति है, वह जन्म-मरण से छूट जाता है।

इसलिये मनुष्य ऐसा श्रेष्ठ कर्म करने का संकल्प करे कि उसके पास न मृत्यु हो और न जन्म हो। जन्म होगा तो मृत्यु अवश्य होगी ही, पर मृत्यु होगी तो जन्म भी निश्चित हो, ऐसा श्रेष्ठ आत्माओं के साथ नहीं घट सकता। जब श्रेष्ठ आत्मायें मुक्ति को प्राप्त कर लेती हैं, तब मृत्यु रोग-शोक-भय आदि सब समाप्त हो जाते हैं। इसी कारण से वेद कहता है कि – हे उच्चता को प्राप्त करने की अभिलाषा करनेवाले जीवात्मन् ! तू अपने श्रेष्ठ कर्मों से मृत्यु की ही मृत्यु कर दे और **"व्रजत् ब्रह्मलोकम्"** ब्रह्मलोक को जा, अवश्य ही मृत्यु से रहित हो जायेगा।

'अमृत्यवः' का दूसरा अर्थ है – संसार में रहकर भी मृत्यु के वशीभूत न होना। इसके लिये वेद का बहुत अच्छा सूत्र है –

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ॥

(अथर्ववेद 11/5/19)

ब्रह्मचर्य के तपोबल से देव, विद्वान् पुरुष मृत्यु का भी विनाश कर देते हैं, वे मृत्युञ्जय हो जाते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य की साधना से मृत्यु को दासी बना लेते हैं। जब तक मृत्यु स्वामी बनी रहती है, तब तक मनुष्य मृत्यु का दास बना रहता है, पर जब मनुष्य मृत्यु का स्वामी बन जाता है, तो मृत्यु उसकी दासी बन जाती है। दासी होने के बाद मृत्यु को भी अपने स्वामी की बात माननी पड़ती है। इसलिये हे मनुष्य ! तू ऐसी ब्रह्मचर्य की साधना कर कि मृत्यु तेरी दासी बन जाये।

दूसरी बात यह है कि संसार में कुछ लोग जीते हुए भी मरे के समान हैं। पर कुछ लोग ऐसे भी हैं कि वे शारीरिक रूप से मृत्यु को प्राप्त होने के बाद भी अपने कर्मों से श्रवणीय यश को प्राप्त कर लेते हैं, और वे सदा-सदा जीवित ही रहते हैं। भगवान् श्रीराम आज शारीरिक रूप से जीवित नहीं हैं, पर वे अपने जीवन में यशयुक्त कार्यों के द्वारा आज भी जीवित माने जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण जी शारीरिक रूप से जीवित नहीं हैं, पर जब हम गीता जैसे उनके उपदेश को पढ़ते हैं, तो लगता है कि वह उपदेश अर्जुन के लिये नहीं है, यह तो हमारे लिये है। मानो कि भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् रूप में मुझे ही उपदेश दे रहे हैं। ऐसा जब प्रत्येक महान् पुरुष के जीवन का अवलोकन करते हुए विचार करेंगे, तो यह निष्कर्ष निकलकर आयेगा कि जिसने यशरूपी कार्यों को जीवन में किया है, वे मरकर भी अमर हो जाते हैं। जिन मनुष्यों की सामाजिक मृत्यु हो गई हो अर्थात् जिनकी प्रतिष्ठा नष्ट हो गई हो, वे लोग मरने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये कहा है –

देहे पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपातवत्।
नरः पतितकायोऽपि यशः कायेन जीवति ॥

(भोजप्रबन्ध 53)

अर्थात् – नाशवान् शरीर के विषय में रक्षा की क्या चिन्ता करना, बल्कि चिन्ता तो नष्ट न होनेवाले यश की करनी चाहिये ? क्योंकि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी मनुष्य का यशरूपी शरीर जीवित रहता है।

इसलिये वेद भी यही भाव प्रकट करते हुए उच्चता व लक्ष्य की प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को सन्देश देते हुए कहता है

कि - तुम जीवन में ऐसे श्रेष्ठ कर्म करो कि तुम्हारा यशरूपी शरीर जीवित रहे और भौतिकरूप से मरने के बाद भी सदैव श्रेष्ठ कार्यों से अमर बने रहो।

(7) अनातुराः = रोगरहित होना। ये मानव शरीर बड़े पुण्य कर्मों से मिला है। इसको वेद भगवान् ने **"दैवीं नावम्"** दिव्य नौका कह करके सम्बोधित किया है। भवसागर से पार उतरने का तथा समस्त दुःखों से छूटने का यही साधन है। जैसे नौका में छिद्र हों अथवा वह टूटी-फूटी हो, तो उससे नदी को पार नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार रोगी शरीर से कभी लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। शरीर तो **"शरीर-माद्यं खलु धर्म साधनम्"** धर्म-प्राप्ति का एकमात्र साधन है। तो फिर इसके प्रति हमारी लापरवाही क्यों? महर्षि मनु प्रातःकालीन चिन्तन में **"कायक्लेशांश्च तन्मूलान्"** कहकर निर्देश देते हैं कि शरीर के क्लेशों का शमन कर शरीर को स्वस्थ रखना, यह तुम्हारी प्राथमिकता होनी चाहिये। निर्बल मनुष्य का मन-बुद्धि व आत्मा भी निर्बल हो जाता है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ साधनों का निवास होता है। स्वस्थ साधन ही विशेष परिणाम को प्राप्त करा सकते हैं।

इसलिये वेद भगवान् का आदेश है - स्वस्थ रहो, रोगी मत बनो। रोगी रहना पाप है, औषधि खाना नहीं। औषधि तो परमात्मा ने इसलिये उत्पन्न की है कि हम उनके यथोचित सेवन से अपने जीवन को रोगरहित करें, जिससे लक्ष्य प्राप्ति में हमें किसी प्रकार की रुकावट महसूस न हो। इसलिये कवियों ने लिखा है - **"पहला सुख नीरोगी काया"**। स्वस्थ शरीर से ही आत्मिक, सामाजिक, मानसिक, बौद्धिक उन्नति की जा सकती है। इसीलिये जीवन में सर्वाङ्गीण उन्नति की चाहना करनेवाले मनुष्य को चाहिये कि वह शरीर को नीरोग तथा स्वस्थ रखने का सदा ही प्रयत्न करे।

(8) अजराः - जरारहित। जरावस्था वह अवस्था है कि जिसमें मनुष्य असहायता की स्थिति में पहुंच जाता है। वृद्धावस्था और मृत्यु के बीच की अवस्था 'जरावस्था' कहलाती है। इस अवस्था में मनुष्य भोजन का ग्रास भी मुंह तक पहुंचाने में असमर्थ होता है, वस्त्र भी स्वयं नहीं पहन सकता। हर कार्य के लिये दूसरों का मुंह ताकना पड़ता है। ऐसी दीनता-हीनता की अवस्था आने के स्थान पर यदि मृत्यु ही वरण कर ले, तो शायद अधिक अच्छा हो, ऐसा विचार जरावस्था वाला मनुष्य बार-बार करता है। यह अवस्था बचपन की अवस्था से भी अधिक दयनीय है। उस अवस्था में परिजनों का बालक के प्रति ममत्व के कारण उस बालक को असहायता का पता नहीं लगता, पर इस अवस्था में सब कुछ लुट चुका होता है। जीवनरस सूख गया, परिजनों का मोह भङ्ग हो गया, सभी शीघ्र मरने की कामना करते हों, ऐसी अवस्था न आये, उसके लिये पहले से ही सावधान रहो। भोजन-निद्रा-ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का सम्यक् पालक करो, इस अवस्था से यही बचने का श्रेष्ठतम उपाय है।

पर कोई मनुष्य इस उपाय को आयु के अन्तिम चरण में लागू करे, तो उसका कोई

समुचित लाभ नहीं। इसका लाभ तो तब होगा, जब आपके शरीर में सामर्थ्य है, भोज्य पदार्थों के पचाने की शक्ति है, भोगों को भोगने की सामर्थ्य है, उस अवस्था में अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर, सजग रहकर, स्वस्थ जीवन को प्राप्त करना ही एक मात्र उपाय है।

महाभारत के युद्ध के समय कौरवपक्ष के सेनापति आचार्य द्रोण, जिनकी आयु लगभग 290 वर्ष की भी, और पाण्डवपक्ष के सेनापति अर्जुन की आयु लगभग 75 वर्ष की थी, पर आचार्य द्रोण ने पाण्डव पक्ष को धराशायी कर दिया। अगर अर्जुन के पास भगवान् श्रीकृष्ण जैसा उत्तम सारथी न होता, तो अर्जुन कभी भी आचार्य द्रोण को युद्धस्थल से नहीं हटा सकते थे। इतनी बड़ी आयु में अर्जुन जैसे नवयुवक को युद्धक्षेत्र में सेनापति बनकर टक्कर देना, यह आसान काम नहीं है। इसके पीछे आचार्य द्रोण की साधना तथा उनके उत्तम स्वास्थ्य का बड़ा योगदान है।

ऐसे प्रेरणादायक प्रसंगों से यह प्रेरणा अवश्य मिलती है कि मनुष्य जितनी भी आयु प्राप्त करे, वह आयु स्वस्थतावाली हो, ताकि उस दीर्घ आयु का जीवन के लक्ष्य के निमित्त सम्यक् उपयोग किया जा सके। इसीलिये वेद कहता है – हे लक्ष्य को प्राप्त करनेवाले मनुष्य ! तू स्वस्थ बनकर, जरावस्था से रहित हो।

(9) अमविष्णवः – सदा उद्यमी रहो, गतिशील रहो। पुरुषार्थी मनुष्य ही लक्ष्य को प्राप्त करता है। जो निरन्तर चलता रहता है, उद्योग करता रहता है, परिश्रमी बना रहता है, लक्ष्य स्वयं उसके चरणों में आकर खड़ा हो जाता है। भाग्य के भरोसे सफलता की कामना करनेवाले को सफलता नहीं मिलती। सफलता उनको मिलती है, जो उद्यमी होते हैं। तभी तो वेद भगवान् ने कहा है –

कृतं मे दक्षिणेहस्ते जयो मे सव्य आहितः ॥

(अथर्ववेद 7/50/8)

कर्म तेरे दक्षिण हाथ में है, तो विजय वाम हाथ में है। निरन्तर कर्म करनेवाला, लक्ष्य के प्रति गतिमान रहनेवाला, जीवन में सफलता पूर्वक लक्ष्य तक पहुंच जाता है, पर निरुद्यमी मनुष्य नहीं। वेद भगवान् इसीलिये कहते हैं – उद्यमी बनो, पुरुषार्थी बनो। जो प्राप्त नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिये तन-मन-धन से प्रयत्न करो, अवश्य ही लक्ष्य प्राप्त होगा।

(10) सुपीवसः = हृष्ट-पुष्ट रहो। यहां यह शब्द मात्र शरीर की स्वस्थता के निमित्त नहीं है। शरीर की पुष्टता के लिये तो पूर्व ही मन्त्र के शब्दों ने सन्देश दे दिया। अब आपके मन में प्रश्न उत्पन्न होगा कि जब हमारा शरीर स्वस्थ है, तो फिर हृष्ट-पुष्ट कौन होगा ? इसका उत्तर है – आपका मन, आपकी बुद्धि। मनुष्य शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट व स्वस्थ दिखाई देता है, पर क्या उसका मन और बुद्धि भी हृष्ट-पुष्ट है, सबल है, स्वस्थ है ? तो उत्तर मिलेगा – नहीं। कारण, हमने बाह्य स्वास्थ्य प्रदान करनेवाले साधनों का उपयोग किया, शारीरिक स्वस्थता प्राप्त कर ली, पर मेरा मन स्वस्थ नहीं है, मेरी बुद्धि स्वस्थ नहीं है। स्वस्थ का सीधा-सा अर्थ है – स्व+स्थ = अर्थात् अपने में ठहरना, स्थित

होना। पर मेरी बुद्धि इतनी अस्वस्थ है कि उसका निर्णय लक्ष्य के विपरीत होता है। मन मेरा इतना विकृत है कि वह किसी एक स्थान पर टिकता ही नहीं। अब आप कल्पना कीजिये कि जिसका मन और बुद्धि दोंनों विकृत हों, यदि वह शरीर से स्वस्थ भी दिखाई दे, तो उसकी स्वस्थता का क्या लाभ ? इसलिये यहां स्वस्थता मन और बुद्धि दोंनों की होनी चाहिये। बुद्धि की स्वस्थता के लिये आर्ष-ग्रन्थों का स्वाध्याय और विद्वानों के सदुपदेशों को श्रवण किया जाय, और मन की स्वस्थता के लिये मन की वृत्ति को संसार से हटाकर परमात्मा में स्थित करने का प्रयास किया जाय।

इसी को योग की भाषा में अभ्यास और वैराग्य कहते हैं। **संसार से मन को पृथक् करने का नाम वैराग्य है और परमात्मा के साथ संयुक्त करने का नाम अभ्यास है।** जब ऐसा होगा, तो फिर जीवन में लक्ष्य को प्राप्त होने से कौन रोक सकता है ?

(11) अतृषिताः = तृष्णा से रहित होना। तृष्णा मनुष्य के जीवन का वह बिन्दु है जो कभी पूरा नहीं किया जा सकता। जितनी तृष्णा की अग्नि द्वारा भोगों को भोग कर मनुष्य समाप्त करने का प्रयास करता है, तृष्णारूपी अग्नि उतनी ही अधिक वृद्धि को प्राप्त होती है। महर्षि मनु ने एक स्थान पर कहा है कि - "जैसे अग्नि में घृत डालने से अग्नि कम नहीं होती, बल्कि अधिक ही बढ़ती है, उसी प्रकार जो मनुष्य तृष्णा को जितना पूरा करने का प्रयास करेगा, तृष्णा की अग्नि उतनी ही अधिक बढ़ेगी।

महाभारत में भी दादा भीष्म पितामह ने उपदेश देते हुए कहते हैं -

नतृप्तिः प्रियलाभेऽस्तितृष्णा नाद्‌भिः प्रणम्यति।
सम्प्रज्वलति सा भूयः समिद्भिरिव पावकः॥

(महाभारत शान्तिपर्व)

अर्थात् - प्रिय वस्तु प्राप्त होने पर भी तृष्णा तृप्त नहीं होती। वह इस जल से शान्त नहीं होती, बल्कि उसी प्रकार और भी भड़कती है, जैसे ईंधन डालने पर अग्नि।

पर यदि कोई इसके विपरीत **सन्तोष** और **संसार की असारता** रूपी शस्त्र से तृष्णा को मारने की कोशिश करे, तो फिर तृष्णा अवश्य एक दिन समाप्त हो जायेगी। जिस दिन तृष्णा समाप्त हो गई, फिर लक्ष्य प्राप्ति से कोई रोक नहीं सकता। आद्य जगत्गुरु शङ्कराचार्य जी ने एक स्थान पर लिखा है -

"तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति"

(प्रश्नोत्तरी - 2)

अर्थात् स्वर्गपद क्या है ? तो उत्तर देते हैं **'तृष्णा का क्षय होना ही स्वर्गपद है'।** इसलिये यदि मनुष्य जीवन में **इहलौकिक** एवं **पारलौकिक** कल्याण चाहता है, तो उसे तृष्णा को दूर करने का हर सम्भव प्रयास करना चाहिये।

(12) अतृष्णजः = निस्पृह रहना, मोहरहित बनना। हम सब जानते हैं कि मोह कर्त्तव्य पालन में बाधक है। अर्जुन के हृदय में जब परिजनों को देखकर मोह जागा, तो वह कह उठा -

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥

गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥
(गीता 1/29-30)

मेरे अङ्ग अन्दर धंसे जा रहे हैं, मुख सूख रहा है, मेरे शरीर में कंपकंपी तथा रोमांच हो रहा है। गाण्डीव हाथ से छूटा जा रहा है, त्वचा जल रही है, मैं संभल नहीं पा रहा रहा हूं। मन चक्कर खा रहा है। इसलिये -

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥
(गीता 1/36-37)

अर्थात् - हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या सुख मिलेगा , उलटा इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही लगेगा, क्योंकि ये हमारे स्वजन हैं। इसलिये हमें अपने बन्धु धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारना उचित नहीं ? हे माधव ! भला अपने आत्मीय जनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे ?

पर क्या यह विचार अर्जुन के मन में उससे पूर्व भी उठा था ? नहीं। क्योंकि वह क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ था और क्षात्रधर्म का पालन करते हुए अनेकों आततायियों का उसने संहार कर दिया था। पर आज कौरवपक्ष के परिजनों को देखकर अर्जुन अपना गाण्डीव रथ में रख देता है, कारण - मोह का उत्पन्न होना। इसलिये मोह केवल परिवार से ही नहीं, मोह यदि सांसारिक पदार्थों से भी है, अपने शरीर से भी है, तो मनुष्य लक्ष्य कभी प्राप्त नहीं कर सकता, बल्कि वह मोह के कारण दुःख के सागर में निरन्तर डूबता जाता है।

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को आप पढ़ जायें, सम्पूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं के सार को समझने का प्रयास करें, तो आपको दुःख का बहुत बड़ा कारण मोह ही दिखलाई पड़ेगा। जितनी-जितनी मात्रा में मोह गहरा होता चला जाता है, उतना-उतना वह दुःख के सागर में डूबता चला जाता है। इसके विपरीत जितना-जितना मोह कम होता जाता है, उतनी-उतनी मात्रा में दुःख कम होता चला जाता है। तभी तो वेद में कहा गया है -

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यत ॥
(यजुर्वेद 40/7)

जब मनुष्य मोह को छोड़कर संसार के समस्त पदार्थों में एक विभु-प्रभु परमात्मा का दर्शन करने का प्रयत्न करने लगता है, तब उसका सांसारिक पदार्थों से मोह कहां ? और जब मोह नहीं, तो दुःख कहां ?

जहां मोह होता है, वहां फिर लोभ जैसा दोष भी उत्पन्न होने लगता है। इसलिये जीवन के कल्याण की चाहना रखनेवाले प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपने जीवन को मोह से रहित करने का प्रयत्न करे।

उपर्युक्त वेद भगवान् ने जिन बारह सोपानों पर चढ़ने का मनुष्य को सन्देश दिया है, यदि कोई मनुष्य साधक बनकर इन सोपानों पर चढ़ने का सम्यक् प्रयत्न करे, तो वह अवश्य की जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी बन जायेगा। ❐

अथर्ववेद में आयुर्वेदीय चिकित्सा-विज्ञान

आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री
पूर्ति अपा0, विकासपुरी (नई दिल्ली)

वेद ज्ञान-विज्ञान के आदिस्रोत हैं। वेद को ज्ञान का प्रारम्भ माना गया है। 'वेद' शब्द ज्ञान-गति-लाभ तथा विचार के अर्थों में प्रयुक्त होता है। सनातन ज्ञान-राशि वेद नाम से जानी गई है। वेदों की संख्या चार है - ऋग्, यजु, साम और अथर्व। ऋग्वेद में ज्ञानकाण्ड है, यजुर्वेद में कर्मकाण्ड है, सामवेद में संगीत विद्या तथा उपासनाकाण्ड के लिये जाना जाता है। अथर्ववेद में 20 काण्ड हैं, इनकी मन्त्र संख्या 5977 है। अथर्ववेद में गृहस्थ-जीवन, धर्म-नीति, वास्तु-कला, राष्ट्रीयभावना, शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, वनस्पति विज्ञान का वर्णन पाया जाता है। महर्षि दयानन्द ने वेदराशि को परिभाषित करते हुए लिखा है - **"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।"**

अथर्ववेद में चिकित्सा-विज्ञान की आयुर्वेदिक पृष्ठभूमि का मूलतत्त्व उपलब्ध होता है। प्राण-चिकित्सा का भी यहां वर्णन उपलब्ध होता है। भावनाओं के बल पर रोगों को जीतने के अनेकों मन्त्रों का वर्णन उपलब्ध होता है। मनुष्य का अवसाद (डिप्रेशन) में पड़ने का मूल कारण आत्मविश्वास का खो जाना ही है। आज डिप्रेशन की बीमारी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। इसका निदान वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध है। आजकल 'बुद्धू-बॉक्स' की गिरफ्त में आई पीढ़ी कमजोर होती जा रही है। इसका कारण यही है कि यह पीढ़ी मैदान में नहीं निकल रही है। अथर्ववेद 20/137/2 में कहा गया है कि बलशाली बनने के लिये खेलो और व्यायाम करो। अथर्ववेद 19/27/8 में व्यक्ति के दीर्घायु होने तथा मृत्यु को पीछे धकेलने का वर्णन है। सत्रहवें काण्ड के दूसरे सूक्त में रोगों को मनुष्य का शत्रु कहा गया है। इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में शुभकर्म करते हुए दीर्घ जीवन की कामना की गई है। यह आज के चिकित्सा-विज्ञान के चिन्तन से सर्वथा तिरोहित पक्ष है। इसका अर्थ इतना ही है कि शुभकर्मों का कर्त्ता आत्म-विश्वास से भरा हुआ प्रसादपूर्ण जीवन व्यतीत करता है, और यह दीर्घजीवन का कारक बनता है। वैदिक दृष्टिकोण मानता है कि हमारी भावनाएं भी हमारे रोग का कारण बनती हैं, इसलिये बार-बार द्वेष आदि दुर्भावनाओं से दूर रहने की सलाह दी गई है। यथा -

आराद् द्विषेभिरपं याहि दूरम् ॥

(अथ0 19/56/6)

वर्तमान में सूर्य-स्नान का प्रचलन भी बढ़ रहा है। आयुर्वेदिक ग्रन्थों में भी इसका पर्याप्त वर्णन मिलता है। सूर्यस्नान, जिसे आज की पीढ़ी **'सनबाथ'** के नाम से जानती है, का भी चिकित्सकीय महत्त्व है। इसका मूल-स्रोत

अथर्ववेद ही है। त्वचा के लिये आन्तरिक मल के निष्कासन में सूर्य-स्नान बहुत ही प्रभावकारी सिद्ध होता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि सूर्य शरीर के लिये कल्याणकारी होकर तपे -

"सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति"

(अथ0 8/1/5)।

ईश्वर स्तुति-प्रार्थना-उपासना के प्रथम मन्त्र में भी सवितारूपी सूर्य से दुरितों को हर लेने की प्रार्थना की गई है -

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

(यजु0 30/3)

जल-चिकित्सा -

लोई कोहली द्वारा वर्णित जल-चिकित्सा को पर्याप्त समर्थन मिला है। यह जल-चिकित्सा 'टब-बाथ' तक सीमित है। अथर्ववेदीय जल-चिकित्सा अत्यन्त व्यापक तथा व्यापक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है। अथर्ववेद में जल को सभी औषधियों का मूल माना गया है। अथर्ववेद कहता है कि जल में औषधियों का निवास है, जल में रोग-निवारण की शक्ति विद्यमान है। इसीलिये जल को वेद में 'अमृत' कहकर सम्बोधित किया गया है -

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्। अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः॥ (अथ0 1/4/4)

जल में शरीर के लिये आवश्यक आग्नेय-तत्त्व की सत्ता का भी वेद-मन्त्रों में वर्णन पाया जाता है। वेद-मन्त्र कहता है कि ऐश्वर्यशाली परमात्मा ने व्यापनशील जलों में सब औषधियों की शक्ति को रक्खा है। जल में सुखदायक अग्नि का भी वास है। यथा -

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्॥

(अथ0 1/6/2)

आयुर्वेदिक सिद्धान्तों के अनुसार उदर रोगों का मूल पाचनतन्त्र की गड़बड़ी है। पाचनतन्त्र का मूल कारण मन्दाग्नि को माना गया है। इस वैदिक सिद्धान्त के प्रयोग मन्दाग्नि की चिकित्सा जल से सम्भव हुई है। मन्दाग्नि, संग्रहणी आदि उदर रोगों में जल-चिकित्सा अत्यन्त प्रभावी सिद्ध हुई है।

प्रवाहशील जल से हृदय रोग की चिकित्सा का भी अथर्ववेद में वर्णन आया है। प्रवाहशील जल तथा अवरुद्ध जल के गुण-धर्म अलग-अलग होते हैं। जल पर वैदिक ऋषियों का चिन्तन अत्यन्त व्यापक है। महर्षि यास्क ने जल के एक सौ एक पर्याय पदों का वर्णन किया है। ये एक सौ एक शब्द जलवाची हैं, जो कि जल के विभिन्न एक सौ एक गुणों को प्रदर्शित करनेवाले हैं।

आज अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि जल में अनेक तरह के खनिजों का मिश्रण पाया जाता है। यही कारण है कि स्वर्ण आदि अनेक धातुओं के वाचक शब्दों को वैदिक-कोष निघण्टु में जलवाची माना गया है। अथर्ववेद के अनुसार -

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गमः।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्योतभेषजम्॥

(अथ0 6/24/1)

हिमवाले पर्वतों से आनेवाले जलधाराओं के सङ्गम में दिव्य गुण उत्पन्न होता है। इस जल से हृदयरोग की पीड़ा का उपचार किया जा सकता है। अथर्ववेद 6/111/4 तथा 6/24/2 के मन्त्रों में क्रमशः उन्माद तथा क्षय रोगों की जल द्वारा चिकित्सा किये जाने का वर्णन है।

अथर्ववेद के हिरण्य-सूक्त में स्वर्ण के आयुर्वेदिक गुणों का वर्णन किया गया है। स्वर्ण के पात्र में पानी पीने से पायरिया नहीं होता। स्वर्ण से कण्ठ को ढंके रहने से कण्ठ की ध्वनि बनी रहती है। स्वर्ण धातु (वीर्य) को पुष्ट भी करता है। धातु पुष्टि के लिये स्वर्ण-भस्म का उपयोग जग-जाहिर है। अथर्ववेद 7/73/11 तथा 7/69/1 में अन्न, जल तथा वायु से चिकित्सा की प्रेरणा दी गई। शमी वृक्ष के ऊपर उगे हुए पीपल का सन्तानोत्पत्ति प्रसङ्ग में उपकारी प्रयोग कहा गया है। अथर्ववेद का आयुर्वैदिक चिन्तन अत्यन्त व्यापक है। इसलिये यह आज के आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान तथा आयुर्वेद का मार्ग प्रशस्त करनेवाला सिद्ध होगा। गौ-चिकित्सा पर भी वेद-मन्त्रों में अनेकत्र चर्चा की है। गौओं द्वारा कमजोर पुरुष को बलवान बनाने का भी अथर्ववेद 4/21/6 में वर्णन प्राप्त होता है। गौ-मूत्र, गौ-दुग्ध तथा गोमय द्वारा ऐसे अनेक रोगों का उपचार वर्तमान में अनेक वैज्ञानिकों ने परीक्षणों द्वारा सिद्ध किया है। एक मन्त्र में गौ के रंभाने की ध्वनि को भी मनुष्य के लिये उपकारी तथा रोगनाशक माना गया है -

भ॒द्रं गृ॒हं कृ॑णुथ भद्रवाचः ॥

(अथ0 4/21/6)

एक अन्य मन्त्र में शङ्ख की ध्वनि को मानव शरीर के लिये उपयोगी माना गया है। अथर्ववेद कहता है कि शङ्ख की ध्वनि से मनुष्य की आयु बढ़ती है। शङ्ख बजाने से प्राण सबल होते हैं, इसी से उम्र बढ़ती है -

श॒ङ्ख आयुष्प्र॒तर॑णो म॒णिः ॥

(अथ0 4/10/4)

वर्तमान में ध्वनि-चिकित्सा तथा गन्ध-चिकित्सा पर भी अनेक वैज्ञानिकों ने कार्य किये हैं। यह ज्ञान अथर्ववेदीय मन्त्रों में पूर्व ही उल्लिखित है। वेदों में जिस यज्ञ-चिकित्सा का वर्णन है, वह बहुत ही वैज्ञानिक और व्यापक है। यज्ञ में मन्त्र-विज्ञान ध्वनि-सिद्धान्तों तथा दी गई आहुति में वनस्पति-विज्ञान तथा गन्ध-विज्ञान के सिद्धान्तों का पालन होता है। यज्ञ द्वारा प्रसृत सुवास तुरन्त ही राहत देने वाला होता है। वैदिक मन्त्रों में उषाकाल के सेवन से शारीरिक तथा मानसिक रोगों के शमन का भी वर्णन है। आज के वैज्ञानिक उषाकाल को मनुष्य के लिये उपयोगी तो स्वीकार कर रहे हैं, किन्तु इसका चिकित्सकीय तथा वैज्ञानिक प्रभाव अभी भी अज्ञात है। वेद में वायु को भी औषधि माना गया है -

द्वावि॒मौ वातौ॑ वात॒ आ सिन्धो॒रा प॑रा॒वतः॑ ॥

(अथ0 4/13/2)

अथर्ववेद में प्राणविद्या, वायुविद्या, जलविद्या, वनस्पतिविद्या के साथ-साथ चिकित्सा-विज्ञान का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। अथर्ववेद का चिकित्सा-विज्ञान व्यापक तथा पूर्ण है, इस पर अभी अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। ❐

"श्रमेव जयते" श्रम से ही सम्पूर्ण विजय

जिलेराम भाटी एम.ए.
नारायण विहार, (नई दिल्ली)

मानव जीवन एक ईश्वरीय वरदान है, जिसे ईश्वर की वपौती मानकर अवस्थानुसार व्यतीत करना ही जीवन की सफलता है। जीवन कुछ क्षणों से मिलकर बना है, अतः प्रत्येक क्षण अमूल्य है। जीवन में शारीरिक एवं मानसिक परिश्रम के बिना कोई फल नहीं मिलता। परिश्रमी, दृढ़चित्त, दृढ़प्रतिज्ञ एवं महान् उद्देश्य वाला व्यक्ति ही जीवन में उत्तरोत्तर सफलता के सोपानों पर चढ़ता जाता है। मैंने पहले वाक्य में अवस्थानुरूप कार्य करने को जीवन की सफलता कहा है, इसका तात्पर्य यही है कि मानव का जीवन विभिन्न अनुरूप अवस्थाओं द्वारा निर्मित हुआ है, अतः हम अवस्था के अनुसार परिश्रम करें तो जीवन सफल होता है। उदाहरणार्थ – जीवन की प्रथम अवस्था शिशु–अवस्था है, इसमें माता–पिता का दायित्व होता है कि शिशु के सर्वांगीण विकास का उचित वातावरण तैयार किया जाय। इसमें अच्छे विचार, प्रेमपूर्वक पालन, उचित आहार, अच्छे खिलौने, खेल के स्वास्थ्यप्रद उपकरण उपलब्ध कराये जायें। इसके अतिरिक्त शिशु का वातावरण स्वस्छ हो, क्योंकि – स्वच्छ जीवन, स्वस्थ जीवन। इसी अवस्था में शिशु की शिक्षा को भी उचित प्रबन्ध करना माता–पिता का कर्त्तव्य है। चाणक्य ने कहा है –

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ॥
(चाण0 2/11)

अतः अच्छे विद्यालय में अच्छी शिक्षा का प्रबन्ध करना माता–पिता का दायित्त्व है।

शिशु अवस्था के उपरान्त विद्यार्थी जीवन प्रारम्भ होता है। तभी तो चाणक्य ने कहा है – **'प्रथमे नार्जिता विद्या'** अर्थात् बाल्यावस्था में विद्या का अर्जन करना चाहिये। यहां से मानव के मानसिक तथा शारीरिक विकास का पूर्ण सुअवसर प्राप्त होता है। शरीर के समुचित विकास के लिये व्यायाम, कबड्डी, फुटबाल, हाकी, टैनिस आदि में उचित भाग लेना चाहिये। बौद्धिक विकास के लिये पाठ्यक्रम सम्बन्धी अच्छी पुस्तकों का पढ़ना, विद्यालय के शिक्षेतर कार्यों जैसे वाक्प्रतियोगिता, भाषण, नाटक आदि में भी भाग लेना, पुस्तकों का गहन अध्ययन करना, महान् ध्येय को निर्धारित करके तदनुसार कठिन अध्यवसाय करना अत्यावश्यक है। जीवन में उच्च लक्ष्य ही उच्च सफलता दिलाता है। जब अध्ययन करते–करते थकावट होने लगे, तो कुछ समय प्रकृति के समीप जाकर खुले मैदान में टहलने से नवीन ऊर्जा का संचार हो जाता है। जीवन का यह मन्त्र सदैव याद रखना चाहिये – **"श्रमेव जयते"** अथवा **"श्रमं विना न किमपि साध्यम्"** जीवन में कभी शार्टकट

नहीं अपनाना चाहिये। आपकी सैद्धान्तिक योग्यता से व्यावहारिक क्षमता अधिक सफलता दिलाती है।

विद्यार्थी जीवन के पश्चात् युवावस्था आती है, जिसमें आपकी विद्या तथा कार्यक्षमता की परीक्षा प्रारम्भ होती है। यदि व्यक्ति में कठिन उद्योग करने की क्षमता तथा कार्य करने की विशेष योग्यता होगी, तभी सफलता उसके कदमों को चूमेगी। इसलिये कहा है –

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥

(हितोपदेश प्र0 36)

यही नहीं, पञ्चतन्त्र में भी कहा है –

'उद्योगेन विना तैलं तिलानां नोपजायते'

इसलिये अपने लक्ष्य के अनुरूप विशेष योग्यता होनी अत्यावश्यक है। परिश्रम विशेष योग्यता अथवा कार्यक्षमता ही आपको अपने साथियों ने अलग करती है। इसके अतिरिक्त जीवन में सत्याचरण अथवा ईमानदारी आपकी सफलता के द्वार खोलते हैं। कपटाचरण, कदाचार, बेईमानी, असत्याचरण सफलता के द्वार को बन्द करते हैं। इनसे जीवन के व्यापार अधिक समय तक नहीं चल सकते। कभी न कभी भण्डा-फोड़ हो जाता है। तुलसीदास जी ने कहा है –

उघरे अन्त न होइ निबाहू।
कालनेमि जिमि रावण राहू॥

कलई खुलने पर जीवन व्यतीत करना दूभर हो जाता है। अतएव ऐसे व्यवहार से बचना चाहिये। ऋजिष्वा भारद्वाज ने कहा है –

अपि पन्थामगन्महि स्वस्तिगामनेहसम्।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु॥

(ऋ0 6/51/16)

अर्थात् – कल्याणकारक तथा निष्पाप मार्ग पर चलें, जिससे सब शत्रु दूर होते हैं तथा धन की प्राप्ति होती है।

आपका अपने साथियों से व्यवहार भी आपकी सफलता में एक निर्णायक तत्त्व होता है। आपका वातावरण आपका व्यवहार तथा जीवन की शुचिता अन्य व्यक्ति को आकर्षित करते हैं। यदि आपका वातावरण अथवा रहने का स्थान, कार्य करने का कक्ष आदि स्वच्छ हैं, तो अन्य व्यक्ति ऐसे शुद्ध-स्थल से प्रभावित होते हैं, इसके विपरीत होवें तो कोई साथ बैठना पसन्द नहीं करता। अतः जीवन में समरसता अथवा आनन्दमय जीवन तथा वातावरण का विशेष महत्त्व है।

यौवनकाल में धनार्जित करना भी लक्ष्य होता है। चाणक्य ने कहा है –

द्वितीये नार्जितं धनम्॥

यही नहीं, राजा भर्तृहरि ने भी कहा है –

सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति॥

(नीतिशतक 41)

सभी गुण धन के आश्रय से रहा करते हैं। किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि धनोपार्जन के लिये अतिकठिन परिश्रम की आवश्यकता होती है। वामदेव गौतम ने कहा है –

ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा॥

(ऋ0 4/33/11)

अर्थात् - **श्रम से थके बिना देव भी सहायक नहीं होते।** कठिन परिश्रम करते समय शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है। कार्यालय अथवा श्रम स्थान पर यदि थकावट का अनुभव हो तो कुछ समय के कार्य छोड़ते हुए स्वस्छ वायुमण्डल अथवा कक्ष में कुछ समय के लिये टहलना चाहिये, उससे मन तथा तन को ऊर्जा मिलती है। **'स्वस्थ तन तो स्वस्थ मन'** कुछ समय के लिये शान्त मन से भी आराम मिलता है।

जीवन के अन्तिम सोपान पर भी विचार करना आवश्यक है। कुछ व्यक्ति वृद्धावस्था को आराम की अवस्था मानने लगते हैं, किन्तु यह विचारधारा उचित नहीं है। प्रत्येक मानव इस अवस्था में अकेला पड़ जाता है, और अति तनाव के कारण अनेकों रोगों से ग्रसित हो जाता है। अतएव ऐसे समय में कुछ सामाजिक कार्यों में भाग लेना चाहिये, जिससे एकाकीपन का अनुभव न हो। आलसी जीवन अथवा निष्क्रियता की निन्दा की गई है। देखिये -

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चरति चरतो भगः॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

(एतरेय आरण्यक)

अर्थात् - जो मानव बैठा रहता है, उसका भाग्य भी बैठ जाता है। उसके उठने पर वह भाग्य जाग जाता है, उसके सोने पर सो जाता है और उसके चलने पर वह साथ-साथ चलने लगता है, इसलिये कार्यों में संलग्नता होनी चाहिये।

स्वास्थ्य के लिये सुबह-शाम टहलना तथा साथियों के साथ संवाद करना, मानसिक स्वस्थता के लिये अच्छी पुस्तकें पढ़ना, प्रश्नों को हल करना आदि कार्य करने चाहिये। जीवन के इस समय में चारपाई पर पड़े रहकर आराम से जीवन बिताने पर अनेक रोग आक्रमण करने लगते हैं। मुझे एक घटना याद आती है कि हमारे मुहल्ले में एक वृद्ध रहते थे, वे हुक्का पीते रहते और चारपाई पर लेटे रहते थे। कुछ समय बाद उनके दोंनों घुटने जुड़ने लगे और अन्त में तो वे प्राकृतिक कार्यों लघुशंका आदि से अपाहिज हो गये। अन्त में श्रम पर ऋग्वेद एवं अथर्ववेद का कथन चिन्तनीय है -

अ॒यं मे हस्तो॒ भग॑वान् अ॒यं मे॒ भग॑वत्तरः।
अ॒यं मे वि॒श्वभे॑षजो॒ऽयं शि॒वाभि॑मर्शनः॥

(ऋ0 10/61/12, अथ0 4/13/6)

अर्थात् - मेरा हाथ (श्रम) मेरा भगवान् है, यही कल्याण करनेवाला है, यही ऐश्वर्य प्रदान करने वाला है। इससे बढ़कर श्रम की महिमा क्या हो सकती है ? तभी तो अथर्ववेद (7/50/8) का सन्देश है -

कृ॒तं मे॒ दक्षि॑णे॒ हस्ते॑ ज॒यो मे॑ स॒व्य आहि॑तः॥

मेरे दायें हाथ में कर्म है तो विजय बायें हाथ में अवश्य होगी।

अतः यह सूक्ति **"श्रमेव जयते"** जीवन का सबसे बड़ा सन्देश है, मन्त्र है। इसलिये किसी शायर ने बहुत सुन्दर कहा है -

चले चलिये कि चलना ही दलीले कामरानी है।
जो थककर बैठ जाते हैं, उन्हें मंज़िल नहीं मिलती॥

❐

नाद ब्रह्म "ओ३म्"

डॉ0 रामप्रकाश शर्मा 'सरस'
पूर्वसदस्य हिन्दी सलाहकार समिति भारत सरकार (दिल्ली)

सम्पूर्ण जगत् में एक ध्वनि शाश्वत गति में विद्यमान है, जिसे योगियों ने ध्यान एवं समाधि में अनुभव किया, वैज्ञानिकों ने पदार्थों में इसका एक सहज स्पन्दन अपने प्रयोगों तथा खोज विधियों से ज्ञात किया। धर्म की गहरी समझ के जिज्ञासुओं को पूरब के ज्ञानसिन्धु में डुबकियां लगाना आवश्यक है और विज्ञान की गहरी समझ चाहिये, तो पश्चिम में डुबकी लगानी होगी। पश्चिम की मौलिक प्रतिभा विज्ञान में प्रकट हुई और पूरब की प्रतिभा धर्म में प्रकट हुई। विज्ञान चाहिये तो ऑक्सफोर्ड जाओ, कैम्ब्रिज जाओ, हार्वड जाओ; लेकिन धर्म का विज्ञान पढ़ना हो, तो पूरब के सिद्ध योगियों-महात्माओं के चरणों में गिरि-कन्दराओं में भटको। धर्म एक पूर्ण विज्ञान है।

पूरब का विज्ञान पश्चिम के विज्ञान पर सदैव प्रभावकारी रहा है। पश्चिम के वैज्ञानिकों ने अन्त में पूरब के विज्ञान की शरण में आकर आत्म-तृप्ति का अनुभव किया। पूरब के जो जिज्ञासु पश्चिम के विज्ञान को जानने गये, वह सब युवावस्था में गये। पुनः अपनी मौलिक भूमि में वापस आये और पश्चिम के वैज्ञानिक पूरा जीवन विज्ञान के अनुसंधानों में झौंककर अन्त में अन्तः खोखली वेदना को लेकर पूरब की भूमि पर आकर कह उठे - वाह ! जो इस विज्ञान में अनुभव हुआ, वह परम आनन्द इतने वर्षों की वैज्ञानिक साधना में हमें उपलब्ध नहीं हुआ। **"ओ३म्"** कोई शब्द या अक्षर समूह नहीं है। यह सम्पूर्ण विज्ञान का तत्त्व स्वरूप नाद है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में लयबद्ध रूप से गुञ्जायमान है। जिसे योगियों ने अनुभव किया। इसके उच्चारण का प्रभाव सूक्ष्म, परमाणुओं में कम्पन पैदा करता है, जिसे जीवन जगत् को हानि पहुंचानेवाली ऊर्जा (तरंगें) शान्त तथा खण्डित हो जाती हैं।

लगभग दो वर्ष पहले **'टाइम्स'** मैगज़ीन में एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी। उसमें बताया गया था कि न्यूयार्क के एक अस्पताल **'कोलम्बिया प्रेसवायटेरियन मेडिकल सेन्टर'** में हृदय-रोग से पीड़ित रोगियों को ऑपरेशन से पहले एक वैकल्पिक प्रोग्राम से अवगत कराया जाता है, जिसमें अङ्गमर्दन, योग व ध्यान करने को कहा जाता है। अधिकतर रोगियों को सर्जरी से पहले **'ओ३म्'** का उच्चारण करने के लिये कहा जाता है। एक सर्जन का कहना है कि ऐसा करने के पीछे कोई धार्मिक मंशा नहीं है। रोगी एनेस्थिसिया से पहले घबरा जाते हैं। उन्हें हेडफोन की सहायता से इस मन्त्र के उच्चारण करने या सुनने को दिये जाते हैं। ऐसा करने से रोगियों को आत्मबल मिलता है और बुद्धि स्थिर रहती है। हमारी आत्मा की शुद्धि के लिये एक

सर्वश्रेष्ठ अभ्रान्त औषधि है - **'ओ३म्'** नाम। **'ओ३म्'** प्राणाधार है, **'ओ३म्'** दुःख विनाशक है। (हिन्दुस्तान, 10 मार्च 2008)

कठोपनिषद् में महर्षि यम नचिकेता को बताते हैं कि ईश्वर के अनेक नामों में से **'ओ३म्'** या ओंकार ही प्रतिष्ठा के नाम हैं, इसका ऊंचा स्थान है। यह नाम 'ओ३म्' ऐसा है जिसके उच्चारण से वाञ्छित आकांक्षायें पूर्ण करने में सहायता मिलती है। 'ओ३म्' आत्मा का लक्ष्य है, मुक्ति का साधन है। ब्रह्मा ने कहा था - 'ओ३म्' के तीन अक्षर अ+उ+म् हैं, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद को सूचित करते हैं। 'ओ३म्' वेदों का सार है। प्रश्नोपनिषद् में महर्षि पिप्लाद ने कहा था - ओ३म्' के तीन अक्षर अ+उ+म्। 'अ' का अर्थ है - शारीरिक ध्यान। 'उ' का अर्थ - मानसिक ध्यान और तीसरे 'म्' का अर्थ है - आत्मिक ध्यान। केवल 'ओ३म्' ही आत्मा के क्लेशों की औषधि है। 'ओ३म्' ही आत्मा की मुक्ति का द्वार है। 'ओ३म्' का अर्थ यह भी है - अनन्त, निःसीम श्रेष्ठ। उपनिषदों में, पुराणों में, शास्त्रों में, तन्त्रशास्त्रों में, वेदों में 'ओ३म्' है। गुरुग्रन्थ साहब में 'इक ओंकार सतनाम' इस प्रकार से है।

भगवान् बुद्ध ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, परन्तु वे भी 'ओ३म्' के उच्चारण के बिना रह नहीं पाये। हमारा संसार 'ओ३म्' की ही कृति है। इस नाद की अनन्त शक्ति ही सभी अणु शक्तियों में समाई हुई है। 'ओ३म्' ही वह नाद है, जिसकी प्रतिध्वनि पूरे त्रिभुवन में गूंजती है। वह अपने आप में एक मन्त्र है, जिसके बिना सब कुछ अपूर्ण है। तिब्बती लोग इस 'ओ३म्' को **'हुम'** कहकर उच्चारण करते हैं। छान्दोग्योपनिषद् के प्रथमखण्ड में बताया गया है कि 'ओ३म्' का उपासक समृद्धिशाली बनता है। जो स्त्री-पुरुष 'ओ३म्' के नाम का ध्यान, स्तुति, भजन, विचार करते हैं, उनका आत्मिक शरीर बिना किसी रुकावट और स्थिरता से मोक्ष पाने में सफल होता है।

छान्दोग्योपनिषद् के ऋषि ने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार 'ओ३म्' का ध्यान करने से शक्ति का विस्तार होता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि 'ओ३म्' ही ईश्वर का निज नाम है, और उसी की उपासना करनी चाहिये। मूक या तीव्र ध्वनि से 'ओ३म्' का जाप मस्तिष्क के रोगों के उपचार के लिये प्रभावी तरीका है। 'ओ३म्' जाप से मन शान्त व स्थिर होता है। अकार, उकार, मकार जब इन तीनों को व्याकरण रीति से मिलाते हैं, तब 'ओ३म्' शब्द बनता है। अकार, उकार, ह्रस्व-दीर्घ और प्लुत भेद से तीन प्रकार के हैं। मकार भी हल्, अनुनासिक और अनुस्वार भेद से तीन प्रकार का है। 'अ' से विराट-अग्नि और विश्व का ज्ञान, 'उ' से हिरण्यगर्भ-वायु और तेजस का बोध, 'म्' से ईश्वर-आदित्य और प्राज्ञ का बोध होता है। अकार, उकार और मकार से इन नामों का ग्रहण कहां से हुआ और कैसे हुआ, इसका ठीक-ठीक स्त्रोत (आधार) ज्ञात नहीं है। सम्भव है, संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में ऋषि को कहीं इनका उल्लेख दृष्टि में आया हो।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि - मैं वर्णों के मध्य 'अकार' हूं। जब यह अकार किसी हल्

अक्षर से मिलता है, तब उसकी ध्वनि को स्पष्ट तथा सरल ही बनाता है, लेकिन अपने आपको छिपाता है और उस वर्ण के उच्चारण में भेद नहीं आने देता। ईश्वर ने सृष्टि को बनाया और अपने आपको छिपाया है। 'ओ३म्' के उच्चारण में परमेश्वर के नौ नाम एक साथ उच्चरित होते हैं। गायत्री का उच्चारण इस विधिपूर्वक किया जाय, तो विशेष लाभ इस ध्वनि के आवर्त्त-मण्डल में बैठे साधक को प्राप्त होता है।

ओ३म् भूः, ओ३म् भुवः, ओ३म् स्वः। ओ३म् तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। ओ३म्॥ इस विधि से गायत्री में 5 बार 'ओ३म्' उच्चारण होता है। इस प्रकार एक बार उच्चारण करने में ईश्वर के 45 नामों का उच्चारण एक साथ हो जाता है। 100 बार उच्चारण करने से 4500 बार परमात्मा का नाम मुख से उच्चारण हो जाता है। 'ओ३म्' सूक्ष्म से भी सूक्ष्म निराकार स्वरूपा, सत् चित् आनन्द से परिपूर्ण वह सजीव, सर्वोपरि, आकारहीन सत्ता है। 'ओ३म्' अक्षर सभी वेदों का सार है। 'ओ३म्' पर ही ऋचाओं की इमारत खड़ी की गई है। 'ओ३म्' की ध्वनि आकाश में सहजरूप से व्याप्त है। यह सभी ध्वनियों की आदि-स्वरूपा है। 'ओ३म्' पूर्ण प्रार्थना है। 'ओ३म्' नाभि केन्द्र से उच्चारण करते हुए हृदय, कण्ठ, सिर में क्रमशः अनुभव करते हुए उच्चारण करना परम श्रेयस्कर है। प्राकृत ग्रन्थ में 'ओ३म्' की अन्य अद्वितीय व्याख्या की गई है –

एकाक्षर पञ्चपरमष्ठिनामदियं तत्कथमिति चेत्।
अरिहंता अशरीरा आचरिया तह उवज्झाया मुणियां॥

अर्थात् – एकाक्षर 'ओ३म्' परमेशों के प्रथमाक्षर से बना है। वे परमेश हैं – अरिहंत (अ), अशरीरी (अ), आचार्य (अ), (उ) मुनि, (म्) इस प्रकार अ.अ.अ (तीन ह्रस्व स्वर), उ, म् = ओ३म्।

'ओ३म्' जप-ध्यान से पूर्ण लाभ तभी सम्भव है, जब साधक ओ३म् की अनन्त शक्ति एवं अर्थ को ध्यान में रखकर भाव से शुद्ध आचरण, उच्चारण तथा मनन तीनों को जीवन में उतारने का एकनिष्ठ प्रयास करता है, तब यह ध्वनि दिव्य अनुभवों के साथ सकारात्मक ऊर्जा का अपरिमित वायुमण्डल का सृजन करती प्रकट होती है। वस्तुतः 'ओ३म्' कोई शब्द अक्षर नहीं है, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, बल्कि यह एक ध्वनि है। ब्रह्माण्डीय ध्वनि, कॉस्मिक साउण्ड, जिसे योगिया-साधकों ने ध्यान में ध्यान से अपने अन्दर सुना है। यही वह नाद है जिसे मध्यकाल के संतों में रैदास, कबीर और योगात्मा नानक ने अनहतनाद कहा है। वह नाद जो बिना आघात के स्वयंभू है। यह वह मन्त्र है, जो जपा नहीं जाता, यह अजपा स्वरूप होकर स्वतः अन्दर अनुभव होकर आनन्दोत्पत्ति का हेतु बनता है। 'ओ३म्' वेदों में विस्तृत प्रयोग है।

'ओ३म्' के विषय में पाठक अपने मानस को और अधिक तृप्त करने हेतु महर्षि दयानन्द सरस्वती के **'सत्यार्थ-प्रकाश'** के प्रथम समुल्लास, सन्त सर्वदानन्द महाराज का **'सन्मार्ग-दर्शन' 'ईश, कठ्, प्रश्न, बृहदारण्यक, छान्दोग्योपनिषद्'** का अध्ययन कर सकते हैं। ❐

"अधर्म" क्या है ?

आचार्य कर्णसिंह आर्य
नोएडा (गाजियाबाद उ0 प्र0)

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने आर्योद्देश्यरत्न माला पुस्तक में अधर्म की परिभाषा इस प्रकार लिखी है – 'जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर पक्षपातरहित अन्यायी होके बिना परीक्षा करके अपना ही हित करता है, वह अविद्या, हठ, क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेदविद्या से विरुद्ध है और सब मनुष्यों के छोड़ने योग्य है, वही अधर्म है।' यथा–

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥

(ऋ0 10/82/7)

जो ईश्वर की आज्ञाओं को न मानकर मनमानी करता है, वह कभी भी धार्मिक नहीं हो सकता। आगे ऋषि जी लिखते हैं कि – 'जो पक्षपात सहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वर आज्ञाभङ्ग वेदविरुद्ध है, उसको अधर्म मानता हूं।' **"न धर्मः इति अधर्मः"** अर्थात् जो धर्म नहीं है, वह अधर्म है। मनुस्मृति का प्रमाण देकर महर्षि दयानन्दजी सत्यार्थ-प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में लिखते हैं –

अर्थकामेसक्तानां धर्म ज्ञानं विधीयते।
धर्म जिज्ञासमानां प्रमाणं परमं श्रुति॥

धनी और कामी व्यक्ति कभी धार्मिक नहीं हो सकता। धर्म जिज्ञासुओं के लिये वेद का परम प्रमाण है। महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास जी (वि0 1/106) कहते हैं कि इस प्रकार के व्यक्ति कभी धार्मिक नहीं हो सकते –

मत्तः प्रमत्तः उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः।
त्वरमाणश्चलुब्धश्च भीतः कामी च ते दश॥

पागल, मदहोश, उन्मादी, क्रोधी, थका हुआ, भूखा, जल्दबाज, लोभी, डरा हुआ और कामी – ऐसे व्यक्ति अधार्मिक ही कहायेंगे। ऐसे व्यक्तियों से समाज भरा पड़ा हैं, लेकिन हम समझ बैठते हैं कि ये सब धार्मिक हैं, जबकि ऐसे लोगों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। महर्षि मनु महाराज ने जहां धर्म के दश लक्षण कहे हैं, वहां महाभारतकार ने अधर्म के भी दश लक्षण गिनाये हैं। यथा – **'अनाचारस्तवधर्म एति शिष्टा-नुशासनम्'** जो अनाचार, सदाचार, दुराचार, अत्याचार आदि दोष सब अधर्म हैं। और कहा है –

नास्तिक्यं वेदनिन्दाञ्च देवताञ्च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भञ्च भावञ्च क्रोधं तत्क्षणं च वर्जयेत्॥

नास्तिकता, वेदनिन्दा, देवनिन्दा, कुत्सित कार्य, द्वेष, दम्भ, क्रोध, माता-पिता की निन्दा करना। इस प्रकार ये अधर्म के दश लक्षण हैं। महाभारत में कहा है –

यत्र धर्मो ह्य धर्मेण सत्यं यत्रान्ततेन च।
हन्यते प्रक्षमाणानां हसास्तत्र सभासदः॥

जिस सभा में धर्म को अधर्म द्वारा लोप किया जाता है, झूठ से सत्य को छिपाया जाता है, वहां समझो कि सभा में बैठे सब सभासद मर चुके हैं।

जिस समय मृत्यु शरशैया पर पड़े पितामह भीष्म युधिष्ठिर और पाण्डवों को धर्म का उपदेश कर रहे थे, तभी भीड़ को चीरती हुई द्रौपदी पितामह भीष्म के सामने गई और बोली – 'पितामह ! आज तो आप बड़ा सुन्दर धर्मोपदेश कर रहे हैं, उस दिन धर्म कहां था, जब पाण्डवों को वारणावत में जलाया गया था।'

(शेष पृष्ठ 37 पर)

भारतीय-संस्कृति की विशेषताएं

डा० जगदेवसिंह विद्यालङ्कार
तिलक नगर, रोहतक (हरियाणा)

'सम्' उपसर्ग-पूर्वक 'कृ' धातु से सुट् का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करने से 'संस्कृति' शब्द बनता है। जिसका अर्थ है - सम्यक् कृति। पशु-पक्षी आदि भोग योनियों में जो जीव की चेष्टाएं स्वाभाविक ही हुआ करती हैं, उसमें सम्यक्-असम्यक् का भेद नहीं होता। मनुष्यरूपी कर्मयोनि में ही जीव कर्म करने में स्वतन्त्र होता है। वह सम्यक्-असम्यक् दोंनों प्रकार की चेष्टाएं करने में समर्थ है। इसलिये मनुष्य की सम्यक्-कृति या चेष्टा ही 'संस्कृति' कहलाती है।

मनुष्य की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल चेष्टाएं ही संस्कृति है, अथवा मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में सर्वाङ्गीण उन्नति के अनुकूल की गई चेष्टाएं या क्रियाएं ही संस्कृति कहलाती है।

वेदादि शास्त्र समस्त आचार-विचार ही भारतीय संस्कृति का स्वरूप एवं आदर्श है। ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में ही मानव के कल्याण के लिये वेद का ज्ञान प्रदान किया तथा मनु महाराज ने मानव जीवन और मानव समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया। वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा कला-कौशल, भाषा, वेशभूषा, उपासना, दर्शन, साहित्य आदि समस्त आचार-विचार वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल हों, यही भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल रूप है। वेद भारतीय संस्कृति के स्रोत हैं। अतः इसका प्राचीन नाम वैदिक-संस्कृति है। वर्णाश्रम व्यवस्था वेद सम्मत है, अतः वर्णाश्रम व्यवस्था भारतीय संस्कृति की आधार स्तम्भ है।

वेद मानवमात्र का धर्मग्रन्थ है। वेद का उपदेश मानवमात्र के लिये है। वेद में किसी देश विशेष तथा जाति विशेष के लोगों को सम्बोधित नहीं किया। उसमें तो मनुष्यमात्र को सम्बोधित किया गया है। वेद की दृष्टि में न तो भारतीय, एशियायी, योरोपीयन, अफ्रीकन और अमरीकन का कोई भेद है, और न ही काले-गोरे का कोई भेद है। वेद की दृष्टि में धरती के सब मनुष्य परमात्मा की सन्तान होने के कारण आपस में भाई-भाई हैं, अतः वेद की संस्कृति मानवमात्र की संस्कृति है।

वेद को भारतीय आर्यों का धर्मग्रन्थ और उसकी संस्कृति को भारतीय संस्कृति तो इस कारण कह दिया जाता है कि भारतीय आर्यों ने वेद की संस्कृति को विशेषरूप से संभालकर रखा है। वैदिक सिद्धान्तों की उदारता, उदात्तता, विशालता, उच्चाशयता, विश्वबन्धुता आदि

गुणों को सहेजकर रखना ही भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है।

ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त वैदिक सिद्धान्तों के उज्ज्वल एवं जाज्वल्यमान रूप का परचम अजस्रगति से लहराता रहा। मध्ययुग में दुर्भाग्य से धर्म एवं संस्कृति की बागडोर कुछ ऐसे स्वार्थान्ध लोगों के हाथ में आ गई, जिन्होंने वेद के अर्थ को ठीक न समझकर अनर्थ कर डाला, तथा मनु द्वारा कर्माधारित वर्ण-व्यवस्था को जन्माधारित बनाकर, एक आदर्श समाज को तहस-नहस कर दिया। फलस्वरूप कालान्तर में विश्वगुरु भारतवर्ष पर विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हो गये। इस देश की सांस्कृतिक एवं शैक्षिक सम्पदा को मनु महाराज के निम्नलिखित श्लोक में बखूबी देखा जा सकता है -

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनु0 2/20)

अर्थात् - इसी ब्रह्मावर्त्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों=विद्वानों के सानिध्य से पृथिवी पर रहने वाले सब मनुष्य अपने-अपने आचरण अर्थात् कर्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करें।

हजारों-लाखों वर्ष तक भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल रूप का अजस्त्र प्रवाह चलता रहा। महाराज अश्वपति ने अपने राज्य का सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत स्वरूप को दर्शाते हुए यह डिण्डिम घोष किया था -

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न च मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

(छा0 उप0 5/11/5)

इस प्रकार वेद के मार्ग पर चलते हुए इस देश की संस्कृति समस्त विश्व के लिये अनुकरणीय रही है। वेदाधारित भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता यह रही है कि इसमें आध्यात्मिक एवं भौतिकता का अद्‌भुत सामञ्जस्य दिखाई देता है। वेद में जहाँ एक तरफ **"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"** कहकर आध्यात्मिक उन्नति का सन्देश दिया है, वहां दूसरी तरफ **"वयं स्याम पतयो रयीणाम्"** कह कर भौतिक उन्नति का उपेदश भी पूर्णता से संजोया है।

यज्ञ भी भारतीय संस्कृति की एक अन्यतम विशेषता है। वेद और समस्त वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त लौकिक साहित्य में भी यज्ञ की महिमा का वर्णन किया है। यज्ञ भी आध्यात्मिक निःश्रेयस के साथ-साथ भौतिक अभ्युदय का भी सन्देश देता है।

वर्तमान युग में देश और विदेश के वैज्ञानिक भी कृषि-उत्पादन, आरोग्य-वर्धन एवं प्रदूषण-निवारण के लिये यज्ञ की अपरिहार्यता स्वीकार करने लगे हैं। सदाचार भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता रही है। **"आचारः परमो धर्मः"** इस संस्कृति का मूल है। इसीलिये इस संस्कृति में नारी का स्थान अत्यधिक सत्करणीय रहा है। दुर्भाग्य से मध्य काल में नारी की दशा बिगड़ गई थी, जो महर्षि दयानन्द के आगमन से स्पृहनीय बन गई।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

(चाण0 12/13)

यह श्लोक इस संस्कृति का आदर्श है। **उदारता** भारतीय संस्कृति की एक अन्यतम विशेषता है। अनेक विदेशी आक्रान्ता के आने से भी यश के उदारचरित लोगों ने बिना घृणा किये सबको आत्मसात् करने का प्रयास किया और प्रायः वे सभी लोग जो यहां के वासी हो गये, हमारे साथ घुलमिल गए। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता मानवता की सबसे बड़ी परिचायक है। विदेशी आक्रमणकारियों के इतने कठोर थपेड़े खाकर भी हमारी संस्कृति ज़िन्दा है। यही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि इस संस्कृति के संवाहक अपने साथ वैदिक-विद्या का आरोग्यवर्द्धक पाथेय बांधे चले आ रहे हैं, जिसका सेवन करके वे विकट से विकट समय में भी हार न मानकर जीवन को शान से जीना जानते हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण उर्दू के सुविख्यात कवि इकबाल ने लिखा था -

यूनानो मिस्र रोमां सब मिट गये जहां से।
बाक़ी मगर है अब तक नामों निशां हमारा॥
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमां हमारा॥

परन्तु खेद है कि जो संस्कृति अब तक सुरक्षित है, वह पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध से चुंधियाकर तिरोहित होने जा रही है। क्योंकि यह बड़ा भारी षडयन्त्र है, जो मैकाले ने हमारी शिक्षा को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिये चलाया था। शिक्षा ही संस्कृति की मूल होती है। जब मूल ही नष्ट हो जायेगा, तो हमारी संस्कृति का पादप धड़ाम से गिर पड़ेगा। अतः देश के नागरिकों को और विशेषरूप से युवा पीढ़ी को सचेत और सावधान होने की आवश्यकता है, तथा पाश्चात्य-संस्कृति जो केवल भौतिकवादी है, के चश्मे उतारकर उज्ज्वल भारतीय संस्कृति के स्वरूप को पहचानें और पुनः इस आर्यावर्त्त देश को विश्वगुरु बनाने में अपना भरसक योगदान करें और भारतीय संस्कृति की रक्षा करके राष्ट्र को सुख-समृद्धि से सम्पन्न करें। ❒

भगवान् बुद्ध उवाच

* यहां संसार में वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता, अवैर से ही शान्त होता है, यही सनातन धर्म है।

* मत प्रमाद में फंसो, मत कामों में रत होओ, मत कामरति में लिप्त हो। प्रमाद रहित पुरुष ध्यान करके महान् सुख को प्राप्त होता है।

* जैसे ठोस पहाड़ हवा से कम्पायमान नहीं होता, ऐसे ही पण्डित निन्दा और प्रशंसा से विचलित नहीं होता।

* धर्माचारी पुरुष जैसे बुलबुले को देखता है, जैसे मरीचिका को देखता है, लोक को वैसे जो पुरुष देखता है, उसकी ओर यमराज नहीं देख सकता।

* क्रोध को अक्रोध से जीते, असाधु को साधुता से जीते, कृपण को दान से जीते, झूठ बोलनेवाले को सत्य से जीते।

* श्रेष्ठ साधु मनुष्य पापकारी, अनिश्चय-कारी और दूसरों को दुःख पहुँचानेवाली वाणी को कभी न बोले।

ऋषि दयानन्द की आध्यात्मिक देन

डॉ0 मुंशीराम
एम0 ए0 ? पी0 एच0 डी0

हम कभी अन्तर्मुख होते हैं और कभी बहिर्मुख। मैं कलम और कागज़ को देखता हूँ, तो बहिर्मुख हूँ, और जब इनके रूप और रङ्ग पर विचार करता हूँ, तो अन्तर्मुख होता हूँ। बहिर्मुख होने की अपेक्षा अन्तर्मुख होने में जो विशेषता है, वह अन्त में मानव को उसके मूल तक पहुँचा देती है। बहिर्मुख रहने में ऐसा नहीं हो पाता। जो व्यक्ति समाज का अन्तर्मुख न रहकर बहिर्मुख रहता है, उसके हाथ में संसाररूपी वृक्ष का बीज नहीं, उसके पत्ते आते हैं। कौन नहीं जानता कि पत्ते का मूल्य बीज के सम्मुख कुछ भी नहीं है। जब से आर्य-जाति ने ऐसी संस्कृतियों का साथ किया, जो बहिर्मुख थीं, तब से उनके संसर्ग-जन्य प्रभाव के कारण यह भी बहिर्मुख होती चली गई, अन्यथा अपने मूलरूप में यह अन्तर्मुख ही थी।

मिस्र देश के निवासी सम्भवतः इसी हेतु अपने राजाओं के मृत-शरीरों को नाना प्रकार के मसालों द्वारा चिरकाल तक सुरक्षित रखते थे। पश्चिम की जातियां मृत प्राणी के शरीर को गोर में दफना देती हैं और उसके ऊपर गुम्बद खड़े करती हैं, उसका भी यही कारण है। आर्यजाति ने इस पद्धति को अपने अन्दर कभी स्थान नहीं दिया। उसने शरीर को साधनमात्र समझा है, साध्य नहीं, और इसी हेतु हमारे यहां मृत प्राणी का शरीर जला दिया जाता है। क्योंकि उस समय उसका निदान भस्म होने ही में है।

महर्षि दयानन्द के आविर्भाव के समय आर्यजाति प्रमुख रूप से बहिर्मुखी हो चुकी थी, और निराकार ब्रह्म के स्थान पर नाना प्रकार के देवी-देवताओं की प्रतिमायें बनाकर उनकी पूजा करने लगी थी। यज्ञ आदि की पद्धतियों में भी इसने भावना को छोड़कर रूप की आराधना प्रारम्भ कर दी थी। यज्ञ, यूप और उसमें बांधा हुआ पशु जो किसी समय आध्यात्मिक क्रियाओं के प्रतीक थे, अपने मूर्तरूप में ही मान्यता प्राप्त कर चुके थे। शिवलिङ्ग, जो किसी समय निखिल ब्रह्माण्ड का प्रतीक समझा जाता था, अपने साकार रूप में घृणित, कामोत्तेजक पदार्थ बन गया था। ओङ्कार का चिह्न स्वस्तिक, गणेश और कृष्ण के स्त्रैण, मुरलीधर स्वरूप को, तुण्ड-शुण्डधारी गणेश की गजानन मुद्रा को तथा नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रधारी रेखा-चित्रों को ही सब कुछ समझ बैठी थी। हम वस्तु के वास्तविक स्वरूप के स्थान पर उसके कृत्रिम रूप को प्रधानता देने लगे थे। अपने अनुष्ठानों, संस्कारों, पर्वों और प्रथाओं के अन्दर जो मूल विचारधारा निहित थी, उसका हमें कुछ भी ध्यान नहीं रहा था। हम श्रावणी पर्व मनाते थे, दशहरे के दिनों में रामलीला करते थे, दिवाली के

दिन दीप जलाते थे, होली के दिन रङ्ग खेलते थे, परन्तु उनके मूल में छिपी हुई अपनी सांस्कृतिक निधि से वंचित हो रहे थे। एक प्रकार से आर्यजाति उस समय ज्ञानकाण्ड की ओर से पराङ्मुख तथा घोर अविवेक की तमिस्रा में डूबी हुई थी। जिसने जो कह दिया, **'बाबा वाक्यं प्रमाणम्'** समझकर हम स्वीकार कर लेते थे। मियाँ और मदार की पूजा, कब्रों पर वस्त्र चढ़ाना, काज़ी से कान फुँकवाना, जलेसर और अमरोहे में जात करने के लिये जाना, उन दिनों हिन्दुओं के लिये अत्यन्त प्राचीन समझे जानेवाली मान्य प्रथाओं के रूप में स्वीकृत हो चुके थे। महर्षि दयानन्द आर्यजाति के इस सांस्कृतिक पराभव को अनुभव करके क्षुब्ध हो उठे। उनकी आत्मा यह देखकर विचलित हो उठी। जिस जाति ने अपनी चिन्तन शक्ति, मनीषा एवं साक्षात्कार की सुदृढ़ें भित्ति के आधार पर सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक नियमों की स्थापना की थी, जो अपनी प्रबल प्रभविष्णु सदाचार शैली के आधार पर एक दिन विश्व पर शासन करती थी, उसे दूसरों का अनुकरण एवं आराधन करते देखकर महर्षि व्याकुल हो उठे। मैं जब उनकी जीवन घटनाओं पर विवेचनात्मक दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे उन सबके अन्दर से ध्वनित होता हुआ एक ही स्वर सुनाई देता है - **'पीछे लौटो।'** इस स्वर का मुझे एक ही अर्थ प्रतीत होता है - 'शरीर नहीं, आत्मा को देखो; मूर्त नहीं, अमूर्त को पकड़ो; स्थूल नहीं सूक्ष्म का ध्यान करो; भौतिकता नहीं आध्यात्मिकता का आदर्श अपने सामने रखो।'

महर्षि दयानन्द के जीवन में सबसे पहला मोड़ मुझे उस समय दिखाई देता है, जब उन्होंने शिवरात्रि के पुनीत पर्व पर व्रत रखा और रात्रि जागरण करते हुए शिव की पिण्डी के ऊपर चूहे को चढ़ते-उतरते और उस पर चढ़े हुए मेवा-पक्वान्न आदि को खाते हुए देखा। इसी घटना ने उन्हें अन्तर्मुख बना दिया और वे शिवमूर्ति के स्थान पर सच्चे शिव की खोज में प्रवृत्त हुए। पार्थिवता से आध्यात्मिकता की ओर चलने का यह परम पवित्र मुहूर्त था, और महर्षि के जीवन की सबसे बड़ी विजय मैं उनके जीवन के अन्तिम क्षणों में अनुभव करता हूँ। जब वे डाक्टरों की दृष्टि में अत्यन्त गहन शारीरिक पीड़ा से व्यथित होने पर भी मुख से आह तक नहीं निकालते, प्रभु की इच्छा समझकर वे उसे सहन करते हैं, अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि वे शारीरिक पीड़ा को, वायोन्मुखता को कुछ भी महत्व न देकर उसमें ईश्वर की इच्छा का अनुभव करते हैं, और अपने स्वरूप में स्थित होकर अध्यात्म-शक्ति द्वारा शारीरिक कष्ट पर विजय प्राप्त करते हैं।

महर्षि के प्रत्येक प्रोग्राम के अन्दर उनकी दी हुई आध्यात्मिक देन छिपी है। प्रभु की उपासना करने का जो विधान उन्होंने प्रस्तुत किया, वह मानव को बाहर से अन्दर ले जाने वाला है। वैदिक-सन्ध्या के मन्त्रों में प्रारम्भ से अन्त तक स्थूल से सूक्ष्म की ओर, शरीर से इन्द्रिय, इन्द्रिय के साथ प्राण, प्राण से मन और मन से आत्म-स्वरूप तक पहुँचने का अतीव सुन्दर क्रम रखा गया है। भावक्षेत्र में भी बलवत्ता व

यशस्विता से पवित्रता की ओर प्रयाण करने का निर्देश है। प्राणायाम के मन्त्रों तक यद्यपि दो कोषों तक का ही प्रमुखरूप से सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है, पर वहाँ भी दृष्टि मूर्त से अमूर्त की ओर जाने पर ही जमा दी गई है। अघमर्षण के मन्त्रों में सृष्टि का आविर्भाव-क्रम वर्णित हुआ है, जो अपने नाम की सार्थकता सिद्ध कर रहा है। सृष्टि बनी है, अतः इसका एक बनानेवाला है। सृष्टि जैसी पहले कल्प में बनी थी, वैसी ही इस कल्प में भी बनी है, अतः उसका बनानेवाला एकरस है। सृष्टि बनी है तो उसका एक दिन संहार भी होगा, अतः उसका कर्त्ता और संहर्त्ता भी एक ही है। जिसने जीवन दिया, वही उसके लेने का अधिकारी भी है।

मानव पाप में तब प्रवृत्त होता है, जब उसे इस प्रपञ्च के अध्यक्ष का ध्यान नहीं रहता। यदि वह अपने समस्त कार्यों पर दृष्टि रखनेवाले सर्वव्यापक कर्मफल-प्रदाता को सदैव अपने सामने रखे, तो वह पाप-पथ पर चलने से सदैव हटता रहेगा। मनसा-परिक्रमा के मन्त्रों में सभी दिशाओं में फैली हुई प्रभु की विभूति को हृदयङ्गम कराया गया है। जब प्रभु मेरे चारों ओर विद्यमान हैं, तो मैं किसी से क्यों द्वेष करूं ? यदि मुझसे कोई द्वेष करता है, तो प्रभु उसे देख ही रहे हैं। अतः मैं इस द्वेष को उन्हीं के ऊपर छोड़ता हूँ। उपस्थान के मन्त्रों में प्रभु की उपस्थिति अपने अन्दर ही अनुभव करनी होती है। प्राणाग्नि से बढ़कर मन का वैद्युत-तेज है, और उससे भी बढ़कर आत्म-तेज है; परन्तु जो तेज का स्रोत है, जो प्रकाशों का भी प्रकाश, सर्वश्रेष्ठ दिव्यतम तेज है, उसके आधार-स्वरूप परम प्रभु का ध्यान-धारण आध्यात्मिकता की चरम-सीमा कहलाता है। यदि हम सर्वात्मना अपने आपको उसके समर्पित कर देते हैं, तो हमें अक्षय अभयता प्राप्त होती है।

पार्थिवता मानव की बुद्धि को अपनी चकाचौंध में तज्जन्य संशय में ग्रसित करनेवाली है, तो आध्यात्मिकता निर्भयता का अपूर्व वरदान देनेवाली, स्वस्ति, ज्योति और आनन्द की अनुपम वर्षा करनेवाली है। महर्षि दयानन्द ने आर्यजाति को संशय में डालने वाले और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता के पथ से हटा आध्यात्मिक-पथ की ओर उन्मुख किया। यही उनके जीवन-दर्शन और निखिल चरित-समुदाय का केन्द्र-बिन्दु कहा जा सकता है। उन्होंने यदि वर्ण-मर्यादा को गुण और कर्म पर आधारित किया, आत्म-पद्धति हो सबके लिये गृहीतव्य न मानकर केवल ज्ञान निधि, बाह्य-वृत्ति से सम्पन्न सुविकसित मानव के लिये ही स्वीकार किया, संस्कारों में से बाह्याडम्बर को निकालकर उनके आवश्यक तत्त्वों को ही ग्रहण किया, मृतक-श्राद्ध की परिपाटी को हटाकर जीवितों के श्राद्ध पर बल दिया, मानवकृत ग्रन्थों के स्थान पर आर्षग्रन्थों के पठन-पाठन की प्रणाली को पुनरुज्जीवित किया, केवल वेद को स्वतः प्रमाण और अन्य सबको परतः प्रमाण घोषित किया; तो उनकी इस समस्त मान्यताओं में उनकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति ही प्रधान थी। दयानन्द की यह देन आर्यजाति के लिये अमोघ औषध सिद्ध हुई है। आज इसे प्रायः सभी स्वीकार कर रहे हैं। ❑

संतवाणी का महत्त्व तथा उपयोग

डॉ0 रामचरण महेन्द्र
एम0 ए0 ? पी0 एच0 डी0

मनुष्य का महत्त्व उसके शरीर से नहीं, उसकी बुद्धि-विवेक और विचार से है। अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य अपनी बुद्धि तथा विचार के सदुपयोग से ही धन्य होता है। बुद्धि के बल से ही मनुष्य उचित-अनुचित, पाप-पुण्य, अच्छे-बुरे, सार्थक-निरर्थक कार्यों का अन्तर समझता है। स्वार्थ और परमार्थ, नेकी-भलाई, परोपकारिता आदि का भेद मालूम करता है और नीर-क्षीर विवेक के पश्चात् उचित आवश्यक लाभदायक धर्मसंगत विवेकयुक्त काम करता है। सत्य, न्याय, उचित और आवश्यक कार्य सद् विचार के ही फल हैं।

विश्व इतिहास साक्षी है कि जहाँ असंख्य लोग साधारणकोटि का जीवन जीकर काल के ग्रास बने हैं, वहाँ ऐसे भी विद्वान्, चिन्तक, विचारक, सन्त, महात्मा, महर्षि हुए हैं, जिन्होंने अपनी बुद्धि-तर्क, चिन्तन और मौलिक विचारधारा से जनमानस को बदला है। सोचने की नई दिशाएं दी हैं। समुन्नत रूप में चिन्तन, मनन और कल्पना करना सिखाया है। पशुत्त्व की निम्नकोटि से ऊंचा उठाकर जन-जीवन को सुसंस्कृत बनाया, मानव में देवत्त्व का विकास किया। अध्यात्म, दर्शन, धर्म, चिकित्सा, विज्ञान और ज्ञान देकर सभ्यता और संस्कृति का विकास किया है। मानव की बुद्धि को सही दिशाओं में विकसित करना ही ज्ञान को आगे बढ़ाने का उपाय है। मनुष्य अपने शुभ विचारों अर्थात् कर्म से ही ऊँचा उठता है। मानवता के नैतिक विकास में बुद्धि का सदुपयोग ही प्रधान तत्त्व है।

शुभ सात्त्विक कल्याणकारी विचार रखना हितकारी है। नीचतापूर्ण पापमय विचार रखना, बेईमानी, धोखेबाजी, खुदग़र्जी की नीति का आलम्बन करना, लौकिक एवं पारलौकिक दोंनों दृष्टियों से बहुत ही दुःखदायी और हानिकारक है। पशुत्त्व की कोटि में रखनेवाले वासनामय ग़न्दे विचारों को निकालना सभ्यता के विकास के लिये आवश्यक है। निन्दा, क्रोध, आवेश, ईर्ष्या, द्वेष, कुदृष्टि, विरोध, हिंसा आदि के ओछे विचार साक्षात् शत्रु हैं। पापमय कल्पनाओं, विचारों और कार्यों के करनेवालों को घृणा, बदनामी, तिरस्कार, अपमान और उपहास का पात्र बनना पड़ता है। ओछी मनोवृत्ति एक प्रकार की अग्नि है, जो मस्तिष्क की सारी शक्ति और प्रसन्नता को जलाकर ख़ाक कर देती है। जो आदमी कुत्सित विचारों को मन में जमाये रखता है, उसका चित्त सदा मरघट की तरह सुलगता रहता है। किन्तु जिसने दिव्य धर्ममय विचारों को गुप्त मन में बसा लिया है, जो कर्त्तव्य और धर्म को महत्त्व देते हैं, वे स्वयं

तो आनन्द को प्राप्त करते ही हैं, स्वधर्म में आनेवाले व्यक्तियों की आध्यात्मिक, नैतिक और मानसिक उन्नति में भी वे सहायक होते हैं। उच्च-विचार आपकी मूल्यवान् सम्पत्ति है। उनसे स्फूर्ति, उत्साह, इन्द्रियों की सक्रियता, परिश्रमशीलता तथा बाहर स्नेह, सम्मान, विश्वास और श्रद्धा प्राप्त होती है।

जब शुभ सात्त्विक विचारों को मधुर काव्यमयी शैली में प्रकट किया जाता है, तो वे जन-साधारण के मानस में गहराई से अपना स्थान जमा लेते हैं। गीतों की मधुर लय, उत्तम स्वर और संगीत से जुड़कर सन्तवाणी बनती हे। सन्त कवियों ने अपने शुभ विचार ज्ञेय रूप में प्रकट किये हैं। इन्हें संगीत का भी अद्‌भुत ज्ञान था। वे अपने भजन, वाणियाँ ऐसे ताल-स्वर से गाते थे कि सुननेवाले मामूली समझ के लोग भी गहन विचारों को अच्छी तरह से ग्रहण कर, धर्म-पथ पर चलने की पवित्र प्रेरणा पाते थे।

सन्तवाणियों में धार्मिकता और दर्शन के साथ ईश्वर-भक्ति का सम्मिश्रण है। मधुर स्वर में गीत गा-गाकर सुनाने से ईश्वरीय-वाणी घर-घर में फैलती है, और लोग बड़े शौक से उसे ग्रहण करते हैं, तथा सन्मार्ग पर चलते हैं। संगीत के सम्मिश्रण से असाधारण प्रभाव बनता है। जीवन परमार्थ परोपकार में लगता है। संगीत का मनुष्य जीवन को सरस बनाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि मधुर संगीत का अस्तित्त्व मिट जाय, तो दुनिया बड़ी नीरस, रूखी और कर्कश प्रतीत होने लगेगी। साधारण पशु की अपेक्षा मनुष्य को जो आनन्दमयी मनःस्थितियां प्राप्त हैं, उनमें संगीत-साहित्य और गायन-कला का बहुत बड़ा भाग है। प्राणियों के अन्दर जो आत्मतत्त्व, शुभविचार, अच्छाई या श्रेष्ठता परिलक्षित होती है, वह संगीत द्वारा गति-प्रगति प्राप्त करता है। धर्म आगे बढ़ता है, देवत्त्व विकसित होता है। अदृश्य झंकृति के संगीतमय कम्पन से समस्त सृष्टि का काम चल रहा है।

यदि यह संगीत बन्द हो जाय, तो प्रलय में तनिक भी विलम्ब न समझना चाहिये। सरस्वती के हाथ में वीणा का होना एक आध्यात्कि अर्थ रखता है। अर्थ यह है कि - सद्विवेकरूपी सरस्वती का प्राकट्य सितार की आकृति के बने हुए सूक्ष्म शरीर द्वारा होता है।

धर्म का एक अङ्ग संगीत भी है। यहां सन्तवाणी का आकर्षण है। हृषीकेश का पाञ्चजन्य, शङ्कर का डमरू, भगवान् श्रीकृष्ण की मुरली, सरस्वती मां की वीणा का संगीत आज भी प्रसिद्ध है। निःसन्देह विश्व संगीतमय हैं। सन्तवाणियों का संगीत प्रगति-प्रेरणा और प्राणशक्ति है। संगीत तत्त्व होने से जन-साधारण प्रसन्नतापूर्वक सन्तवाणियों को आज भी गले से लगाये हुए है, और आगे आनेवाली पीढ़ियां भी उन्हें भूल नहीं पायेंगी। कहा भी है -

अंके न आँके मोल हरि, बोल संत अनमोल।
पाप-ताप बिस्तर करे, पलक-झपक में गोल॥
ढाढ़स दे, मन शुचि करे, पथ जीवन दरसाय।
जिसमें हरि के तीन गुण, वो वाणी संत कहाय॥

❐

धर्म संवर्द्धिनी सभा के तत्त्वावधान में दि० ८ अप्रैल २०१४ रामनवमी कार्यक्रम आर्यसमाज इन्द्रपुरी में तथा उत्तमनगर में प्रति रविवार नैतिकशिक्षा कक्षा। दि० ४ मई २०१४ को मधुविहार में 'मधुमेह जांच शिविर'

आचार्य श्याम जी भगवान् श्रीराम के जन्मोत्सव पर विशिष्ट यज्ञ व उपदेश का कार्य करते हुए

रामनवमी के अवसर में यज्ञ में सम्मिलित यजमान परिवार यज्ञ कार्यक्रम में भाग लेते हुए

उत्तम नगर में बच्चे नैतिकशिक्षा की कक्षा में प्रार्थना करते हुए, तथा साथ में कक्षा सहयोगी श्रीमती मिथलेश शर्मा

श्रीमती तारा शर्मा उत्तम नगर में प्रत्येक रविवार बच्चों की नैतिक-शिक्षा की कक्षा लेते हुए

"मधुमेह जांच शिविर" मधुविहार में आये हुए रोगी अपनी बारी की प्रतीक्षा करते हुए

डा० एम० एल० गुप्ता जी तथा डा० राजेश कौड़ा शिविर में आये हुए रोगियों का परीक्षण करते हुए

डा० एम० एल० गुप्ता, डा० राजेश कौड़ा एवं आचार्य श्याम जी

"मधुमेह जांच शिविर" में रोगी अपनी बारी की प्रतीक्षा करते हुए

धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली राज्य के तत्त्वावधान में दिनाङ्क १९ मई २०१४ से २५ मई २०१४ तक सनातन धर्म मन्दिर नारायण विहार दिल्ली में "संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर"

"संस्कृति-संस्कृत रक्षा शिविर" में सम्मिलित होने वाले बच्चे कक्षा में प्रार्थना करते हुए

धर्म संवर्द्धिनी सभा की मन्त्री श्रीमती परमजीत कौर बच्चों को शिविर में योगासन कराते हुए

प्रधानाचार्या श्रीमती इन्दिरा शर्मा शिविर में आये बच्चों को योगासन कराते हुए

आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के मन्त्री श्री विनय आर्य शिविरार्थियों को सम्बोधित करते हुए

डा० एम० एल० गुप्ता शिविर में आये बच्चों को स्वास्थ्य-शिक्षा का उपदेश करते हुए

श्री करणसिंह तंवर एवं श्री चन्द्रभान जी बच्चों को शिविर समापन अवसर पर प्रमाण-पत्र प्रदान करते हुए

श्री विनय महेन्द्रू, श्री हरकिशन कत्याल एवं श्री प्रवीण ओबराय प्रमाणपत्र देते हुए

श्रीमती मालती वर्मा एवं श्रीमती तारा शर्मा बच्चों को प्रमाण-पत्र देते हुए

धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली के तत्त्वावधान में समायोजित आर्यसमाज इन्द्रपुरी, दिल्ली में दिनाङ्क २६ मई २०१४ से १ जून २०१४ तक "संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर"

"संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर" में सम्मिलित होने वाले बच्चे ईश-प्रार्थना करते हुए

सभा मन्त्री श्रीमती परमजीत कौर शिविर में आये बच्चों को योगासन कराते हुए

श्रीमती तारा शर्मा शिविरार्थियों को ईश-प्रार्थना कराते हुए

श्री चन्द्रभान जी, श्री करणसिंह तंवर एवं श्रीमती तारा शर्मा शिविर में प्रार्थना के अवसर पर

आर्यसमाज सफदरजंग एन्क्लेव के प्रधान श्री रवि गुप्ता अपनी आर्यसमाज के मन्त्री एवं सदस्यों के साथ शिविर में

श्री चन्द्रभान, श्री करणसिंह तंवर एवं आचार्य श्याम जी शिविर के अवसर पर

राजेन्द्र नगर क्षेत्र के विधायक श्री आर० पी० सिंह बच्चों को प्रोत्साहित करते हुए

प्रमाण-पत्र वितरण के कार्यक्रम में उपस्थित गणमान्य सदस्य

धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली राज्य के तत्त्वावधान में दिनाङ्क २१ दिसम्बर २०१४ को भोगनविला पार्क नारायण विहार में ग़रीब बच्चों के निमित्त स्वेटर-इनर व मोजे वितरण समारोह

स्वेटर वितरण कार्यक्रम में सम्मिलित श्री जसवन्त राय, श्री ज्ञानचंद भूटानी, आचार्य श्यामदेव, श्री अशोक वत्रा, श्री गुप्ता जी

स्वेटर-इनर व मोजे वितरण समारोह में विभिन्न विद्यालयों से आये हुए बच्चों का सामूहिक चित्र

श्रीमती तारा शर्मा स्वेटर-इनर व मोजे वितरण के अवसर पर बच्चों को सम्बोधित करते हुए

श्रीमती सन्तोष वधवा, श्री चन्द्रभान जी, डा० सुदर्शन रहेजा एवं श्री ज्ञानचन्द भूटानी बच्चों को स्वेटर-इनर व मोजे वितरण करते हुए

श्रीमती ताराशर्मा एवं श्री जसवन्त राय जी बच्चों को स्वेटर-इनर व मोजे वितरण करते हुए

श्री राजेन्द्र गान्धी बच्चों को सम्बोधित करते हुए। साथ में बैठें हैं श्री भूटानी जी, श्री रणवीर सिंह एवं श्री चन्द्रभान जी।

श्री करणसिंह तंवर जी बच्चों को स्वेटर-इनर व मोजे वितरण करते हुए

श्री सुनील कोहलीजी बच्चों को स्वेटर-इनर व मोजे वितरण करते हुए

लौकी-जूस : एक अमृत पेय

डॉ0 विनोदचन्द्र विद्यालङ्कार
आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर, हरिद्वार

लगभग तीन वर्ष पूर्व एक दिन प्रातः मुझे बैठे-बैठे गले में कुछ फंसा-फंसा-सा प्रतीत हुआ तथा खड़े होने पर चक्कर से आये। चिकित्सक को बुलाया, उन्होंने सामान्य जांच करने के बाद ई.सी.जी. करवाने का परामर्श दिया। ई.सी.जी. करने पर तीव्र हृदयाघात की पुष्टि हुई और तत्काल गहन चिकित्सा कक्ष में प्रविष्ट कर चिकित्सा आरम्भ कर दी गई। परिवार जनों को बताया गया कि इन्हें रात को किसी समय दर्दरहित हार्टअटैक पड़ा है। नौ दिन तक चिकित्सा करने के बाद नर्सिंगहोम से छुट्टी दे दी गई और नियमित दवाई, परहेज एवं विश्राम का परामर्श दिया गया। दिसम्बर सन् 2000 में टी.एम.टी. करने पर थोड़े से ब्लॉकेज़ की आशंका व्यक्त की गई, जिसकी दवाईयों से ठीक हो जाने की संभावना भी व्यक्त की गई।

इसी बीच मैंने 'नीरोगधाम' पत्रिका में धनौरा मण्डी (मुरादाबाद) निवासी श्री विनोद कुमार अग्रवाल का एक लेख पढ़ा। जिसमें "हृदयरोग का अचूक नुस्खा लौकी पेय" का विवरण दिया गया था। मैंने फोन पर श्री अग्रवाल से एकाधिक बार सम्पर्क करना चाहा, पर असफल रहा। मरता क्या न करता, मैंने पत्रिका में प्रकाशित लेख के आधार पर दिन में तीन बार की बजाय केवल एक बार लौकी-जूस लेना आरम्भ कर दिया। साथ ही चिकित्सक के परामर्शानुसार नियमित रूप से औषधि सेवन, परहेज़ एवं भ्रमण भी चलता रहा। जुलाई 2001 में पुनः टी.एम.टी. हुआ, इस बार चिकित्सक ने कहा कि अब आपको एंजियोग्राफी और उसके बाद बाईपास सर्जरी भी करवानी पड़ सकती है। उनकी इस बात से मैं काफी चिन्तित हो गया। घर आकर मैंने पुनः श्री विनोद कुमार अग्रवाल से फोन पर वार्ता करने का सफल प्रयास किया, उनसे लगभग दस मिनट बात हुई। उन्होंने परामर्श दिया कि मैं लौकी-जूस दिन में तीन बार नियमित रूप से लूँ, और अपनी रिपोर्ट तथा आजतक की स्थिति का पूरा विवरण बम्बई के के.ई.एम.आई. हॉस्पिटल के सेवानिवृत्त डीन तथा सेठ जी एस. मेडीकल कॉलेज़ के एनाटामी विभाग के प्राध्यापक डॉ0 मनुभाई कोठारी को भेज दूँ, जिन्होंने लौकीजूस को लाभकारी पाया है, और जो ऐलोपैथिक चिकित्सक होते हुए भी इसको लेने की प्रबल संस्तुति करते हैं। पहले तो मैं उनके सुझाव पर असमंजस की स्थिति में रह गया कि कोई अपरिचित डॉक्टर बिना मरीज़ के उपस्थित हुए और फीस के बिना कैसे और क्यों परामर्श देने लगा। पर श्री अग्रवाल जी के बार-बार आग्रह को देखते हुए मैं आश्वस्त हो गया और मैंने

आदि से तब तक के सभी ई.सी.जी., टी.एम.टी. एवं अन्य जांचों की रिपोर्ट, उपचार के पर्चे आदि सम्पूर्ण विवरण सहित डॉ0 कोठारी को भेज दिया। उन्होंने सारी रिपोर्टो आदि को देखकर मुझे पत्रोत्तर दिया तथा फोन पर भी विस्तृत वार्ता की, जो वास्तव में उनकी महानता का परिचायक है, तथा उनका जीवन इस उक्ति का साकाररूप है कि -

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तनाशनम्॥

अर्थात् - आधि-व्याधि आदि दुःखों से संतप्त प्राणियों के रोग व सन्ताप दूर हो जायें और सब स्वस्थ जीवन प्राप्त करें, यही मेरी कामना है। डॉ0 कोठारी के शब्दों में - 'आपका इस्करान फ्रेक्शन (ई.एफ) 68-72% तक क्षतिग्रस्त होने के बावजूद भी आप लौकीजूस से ठीक रह सकते हैं।' उन्होंने परामर्श दिया कि लौकीजूस का सेवन दिन में दो-तीन बार करना उचित है, पर हरेक बार वह ताज़ा ही बनाया जाय। कोई खट्टा नहीं खाना है। उनके मत में लौकी अमृत स्वरूप में ली जाये, तो सिर से पैर तक कल्याणकारी है। उसका लिपिड स्तर पर भी असर पड़ता है।

मैं लगभग दो वर्ष से अधिक समय से डॉ0 कोठारी द्वारा संस्तुत विधि-विधान से लौकीजूस तैयार करके उसका नियमित रूप से तीन बार सेवन कर रहा हूं। मैं उसके साथ अर्जुन की छाल का चूर्ण भी दिन में दो बार ले रहा हूं। परिणाम आशानुकूल ही है। रक्तचाप एवं लिपिड प्रोफाइल पूरी तरह से नियन्त्रण में है। प्रतिदिन दोंनों समय कुल मिलाकर 8-10 किलोमीटर तेज गति से घूम भी रहा हूं, जिसमें किसी प्रकार की थकान या अतिरिक्त पसीना नहीं आता है। यह सब लौकीजूस तथा अर्जुन की छाल के चूर्ण का ही सुपरिणाम है, ऐसा मेरा मानना है। ऐलोपैथिक डॉक्टर भी प्रगति से पूरी तरह सन्तुष्ट हैं।

यह तो रही मेरी आप-बीती। वस्तुतः डॉ0 कोठारी की संस्तुति की सफलता मालेगांव निवासी श्री केशरीचन्द्र मेहता के रोगमुक्त होने के साथ ही प्रकाश में आयी।

श्री मेहता की तीनों मुख्य रक्त-वाहिनियां (आर्टरीज़) लगभग पूरी अवरुद्ध थीं और छोटी रक्तवाहिनियां लगभग 70% अवरुद्ध थीं। वे अपनी बाईपास सर्जरी करवाने के विषय में परामर्श करने तथा आप्रेशन करवाने के लिये डॉ. कोठारी के पास गये। डॉ. कोठारी ने बाईपास सर्जरी के विरोध में अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए इसे न कराने की सलाह दी। उन्होंने श्री मेहता की चिकित्सा जिस प्रकार की, वह आश्चर्यजनक ही नहीं वरन् इतनी सहज एवं साधारण है कि हर किसी को उस पर विश्वास नहीं होगा। परन्तु उससे श्री मेहता को आशातीत लाभ हुआ। चिकित्सा से पूर्व पांच-दस कदम भी नहीं चल पाते थे। श्वॉस फूलने लगता था, हांफने लगते थे, पर चिकित्सा के बाद वे दस-बारह किलोमीटर आराम से चल लेते हैं, कोई कष्ट नहीं। हृदय की धड़कन में किसी प्रकार की वृद्धि, थकावट, हंफनी आदि कुछ नहीं। यह कमाल है - डॉ. कोठारी द्वारा संस्तुत लौकीजूस का।

लौकी-जूस बनाने की विधि -

250-300 ग्राम कच्ची फीकी लौकी (कड़वी लौकी कभी न लें) को छिलके सहित धोकर कद्‌दूकस से कस लें। कसी हुई लौकी को मिक्सी-ग्रांडर में डालकर या सिलबट्टे पर पीस लें। इसके साथ 7-8 पत्ती तुलसी एवं 5-6 पत्ती पुदीना भी डाल लें। इस तरह पिसी हुई लौकी को पतले कपड़े से छानकर रस निकाल लें। रस की मात्रा 125-150 ग्राम होनी चाहिये। इसमें बराबर का ताज़ा पानी मिला लें। इस तैयार रस में तीन-चार काली मिर्च का पाउडर तथा एक ग्राम सैंधानमक मिलाकर भोजन के आधा-पौने घण्टे के बाद प्रातः-दोपहर और रात्रि को तीन बार लें। प्रारम्भ में रस की मात्रा 3-4 दिनतक कम भी ली जा सकती है, बाद में अभ्यास होने पर पूरी मात्रा ही लेनी चाहिये। यह लौकी-जूस हर बार ताज़ा बनाना होगा। इसको पीने से पेट के विकार दूर हो जाते हैं। हो सकता है कि प्रारम्भ में 3-4 दिन तक पेट में कुछ गड़गड़ाहट अनुभव हो तथा एकाध दस्त भी आ जायें। यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, इससे घबड़ाने या भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। पेट के विकार दूर होते ही सामान्य स्थिति हो जायेगी। इस लौकी-जूस से रक्तचाप, कॉलेस्ट्रोल आदि नियंत्रण में आ जाते हैं। आज के युग में देश की 50-60% से अधिक जनसंख्या आबाल-वृद्ध रक्तचाप तथा हृदयरोग से पीड़ित हैं। सैकड़ों-हज़ारों लोग इस पेय से लाभान्वित हो रहे हैं। ऐसे भी केस प्रकाश में आये हैं कि जिनमें एंजियोग्राफी ने आर्टरीज़ में ब्लॉकेज होने की पुष्टि की थी, पर लौकी-जूस के नियमित सेवन के बाद पुनः एंजियोग्राफी कराने पर उसे दूर हुआ पाया गया। इसका विवरण लगभग दो वर्ष पूर्व 'कादम्बिनी' में तथा हाल ही में 'कल्याण' आदि कई पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुआ था। साथ ही अनेक प्राकृतिक चिकित्सक भी हृदय रोगियों को इस पेय को लेने का परामर्श देते हैं।

लौकी-जूस के साथ यदि अर्जुन की छाल का काढ़ा या चूर्ण दिन में दो बार लिया जाय, तो सोने में सुहागा सिद्ध हो सकता है, ऐसा हमारा ही नहीं, अन्य रोगियों का भी अनुभव है। पंतनगर में अवरुद्ध आर्टरीज़ वाले रोगी द्वारा अर्जुन की छाल का चूर्ण लेने के बाद दोबारा एंजियोग्राफी करवाने पर अवरोध को समाप्त हुआ पाया गया। श्री विनोद कुमार अग्रवाल ने एक अन्य स्वानुभूत गुणकारी नुस्खा भी बताया है, जो हृदयरोग में समान रूप से लाभकारी सिद्ध हुआ है। मैंथी, अर्जुन की छाल, आंवला और टैंटी सब समान मात्रा में लेकर कूट-पीस लें और छान लें। प्रातः शौचादि से निवृत्त होकर खाली पेट एक चम्मच चूर्ण ताजे पानी से लें। इसके एक घण्टे तक कुछ न खायें-पियें। इस नुस्खे के सेवन से रक्त संचार की रुकावट दूर होती है और हृदय को पर्याप्त रक्त मिलने लगता है। यद्यपि ये सभी प्रयोग निरापद हैं, तथापि इनको लेने से पूर्व अपने चिकित्सक को विश्वास में लें, तो उपयुक्त होगा। आरम्भ में इनके साथ चिकित्सक द्वारा प्रस्तावित दवाईयों का सेवन भी करते रहना चाहिये।

❐

महात्मा का उपदेश

स्वामी स्वतन्त्रतानन्द
लुधियाना (पंजाब)

मैं एक बार हरिद्वार में अवधूत चेतनदेव जी की कुटिया में ठहरा हुआ था। उन दिनों निर्मलों की कुटिया में एक महात्मा निवास करते थे। उनका शुभ नाम था – सन्त बहादुर सिंह जी। वे वेशभूषा से टिपिकल=टकसाली महात्मा थे। नहर पर भ्रमण समय कई बार उनसे भेंट हो जाती थी। धीरे-धीरे उनसे कुछ परिचय भी हो गया था। वे किसी भी भाषा से पूर्णतया परिचित न थे, अतः उन्होंने कोई भी पुस्तक नहीं पढ़ी थी, किन्तु सत्संगी महात्मा अवश्य थे।

एक दिन नहर के तट पर बैठ गये और वार्तालाप में मैंने उनसे पूछा – कोई तत्त्व की बात बताइए। उन्होंने मुझे उत्तर दिया – 'मैंने अब तक सत्संग द्वारा जो कुछ प्राप्त किया है, उसका सार यह है कि मनुष्य को चार बातें आनी चाहिये। जिसको ये चार बातें नहीं आतीं, वो चाहे विद्वान् हो, धनी हो, साधु हो, गृहस्थ हो, सब जगह वह दुःख पायेगा। ये चार बातें हैं – (1) कहणी (2) सहणी (3) बहणी (4) रहणी।

कहणी – अर्थात् मनुष्य को कहणी (कथन करना) आता हो, किस समय क्या कहना है, किसको क्या कहना है, कौन-सी बात किस प्रकार कहनी है, इत्यादि। जिसको यह आता है, वह अपनी वाणी द्वारा सबको वश में कर लेगा।

सहणी – अर्थात् सहन करना। यदि कोई कठोर वाक्य बहता है, यदि कोई अपशब्द प्रयोग करता है, यदि कोई किसी पर लांछन लगाता है, तो उसे उन सबको सहन करना चाहिये और सहन करते हुए उन बातों के कारण पर-विचार करके निश्चय करना चाहिये। जिसमें यह सहिष्णुता नहीं है, वह दुःखी रहेगा और जिसमें सहनशीलता है, वह सुखी रहता है।

बहणी – अर्थात् बैठना। कहां बैठना तथा किस स्थान पर कैसे बैठना, इसको जो जानता है, वह सर्वत्र सम्मानित होता है। बड़े-बूढ़ों, गुरुजनों के पास बैठने का अन्य प्रकार है, साथी-संङ्गियों के पास बैठने की विधि और है। किसी महात्मा तथा महान् मनुष्य की सेवा में बैठने की रीति कुछ भिन्न ही है। आशङ्का, भय, युद्ध, पलायन, योगाभ्यास आदि भिन्न-भिन्न अवसरों के लिये बहणी=आसन भिन्न-भिन्न ही हैं। इनको जो यथावत् नहीं जानता है, वह केवल आदर ही नहीं पाता, अपितु तिरस्कृत होता है। अतः बहणी = बैठने की विधि पर पूर्ण विचार करके समयानुसार उसके अनुसार बर्तना चाहिये। जिससे निरादर से होनेवाला दुःख न हो और जीवन में अपेक्षित सफलता भी अवश्य मिले।

रहणी – अर्थात् मनुष्य को कहां किस प्रकार रहना चाहिये। किसके पास किस प्रकार रहने की आवश्यकता है। जो यह जानता है, उसका सब स्थानों पर मान होगा। जिसे यह नहीं आता है, वह प्रायः अपमानित ही होता रहेगा। इसलिये संसार में ये चार बातें तत्त्व की हैं, अर्थात् – **कहणी** (कथन), **सहणी** (सहन-शीलता), **बहणी** = आसन (बैठना), **रहणी** (रहने का समुचित ढङ्ग) आनी चाहिये। महात्मा का सूत्र सच ही है।

कहणी, सहणी, बहणी, रहणी – चार बातें अवश्य सीखो, इनसे ही शान्ति और सुख का लाभ होगा।

❑

(पृष्ठ 24 का शेष)

उस दिन धर्म कहां था, जिस दिन पाण्डवों को सभा में अपमानित किया गया था। उस दिन धर्म कहां था, जिस दिन भरी सभा में मेरा अपमान किया गया था। उस दिन धर्म कहां था, जिस दिन अभिमन्यु को सात महारथियों ने एक साथ मिलकर मारा था ?

पितामह भीष्म उत्तर देते हुए बोले – बेटी ! तुम ठीक कह रही हो। उस समय दूषित आहार-विहार से मैं अधार्मिक बन गया था। अब शरीर से दूषित रक्त निकल चुका है। इसलिये मैं कहता हूं कि तुम धर्म का पालन करो और अधर्म से बचते रहो। द्रौपदी ने कहा – हमारे पास है क्या, जो हम धर्म का पालन कर सकें ? पितामह भीष्म ने द्रौपदी को समझाते हुए कहा – पुत्री ! जो युधिष्ठिर के पास है, वह दुर्योधन कभी प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि युधिष्ठिर के पास धर्म है, चरित्र है, श्रेष्ठ आचरण है। महाभारत में कहा भी है –

वृत यत्नेन संरक्षेत् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्तस्तु हतोहतः॥

तुम्हारे पास चरित्र है, जो कभी नष्ट नहीं होता, धन तो नष्ट होनेवाला है, अतः हमें सदा अधर्म को छोड़ धर्म को ही बढ़ाना चाहिये। नीतिकार कहते हैं कि धर्म ऐसे बढ़ना चाहिये –

सत्यादुत्पद्यते धर्म दया दानद्धि वर्धते।
क्षमया तिष्ठन्ते धर्म क्रोधाधर्मो विनश्यति॥

धर्म की रक्षा सत्य से होती है। दया दान से बढ़ती है, विनम्रता से धर्म स्थिर होता है और क्रोध से धर्म विनष्ट होता है। इस प्रकार मनुष्य को सदा अपने व्यवहार को पवित्र बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। यथा –

आर्जवं धर्ममित्याहु अधमा जिह्व उच्यते।
आर्जवमेह न संयुक्तो नरोऽधर्मेण युज्यते॥

कुटिलता बड़ी भयानक निकृष्ट स्थिति है। जब मानव कुटिल हो जाता है, तो अधार्मिक बन जाता है। महर्षि मनु का वचन है –

पञ्च यज्ञास्तु यो मोहान्न करोतिगृहाश्रमी।
तस्य नायं न च परोलोके भवत्यधर्मतः॥

जो गृहस्थी मोह प्रमाद के कारण यज्ञ नहीं करता, वह लोक-परलोक दोंनों को खराब कर अधर्म को बढ़ाता जाता है।

मनुष्य-शिक्षा के अभाव में अपना आचरण बिगाड़कर गहरे अज्ञानान्धकार में जीता है। महर्षि मनु (2/168) कहते हैं –

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशुः गच्छति सान्वयः॥

जो मनुष्य वेद जैसे पवित्रज्ञान को छोड़कर अन्यत्र श्रम करता है, वह पुत्र-पौत्र सहित शूद्रकुल को प्राप्त होकर अज्ञान-अविद्या से ग्रसित होकर अपने को सदा अधर्म की तरफ धकेलता रहता है। ❑

महर्षि दयानन्द और राष्ट्रभाषा

भवानीलाल भारतीय
श्रीगङ्गानगर (राजस्थान)

बम्बई में जब आर्यसमाज की स्थापना हुई और उसके 29 नियमों का निर्धारण किया गया, तो संस्कृत के साथ हिन्दी को भी उनमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। पांचवां नियम इस प्रकार है - **"प्रधान-समाज में वेदोनुकूल संस्कृत और आर्यभाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश की पुस्तक होंगी और एक आर्य-प्रकाश पत्र यथानुकूल साठ-साठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किये जायेंगे।"** इस नियम से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि आर्यसमाजों में जहां संस्कृत शास्त्र ग्रन्थों के विशाल संग्रह होंगे, वहां हिन्दी पुस्तकें भी वैदिक शिक्षाओं के अनुकूल तैयार कराई जायेंगी। **'आर्य-प्रकाश'** नामक जिस साप्ताहिक पत्र की योजना आर्यसमाज के स्थापना काल में ही प्रस्तुत की गई थी, वह भी हिन्दी (आर्यभाषा) में ही निकलेगा, यह तो उसके नाम से ही ध्वनित होता है। यह ज्ञातव्य है कि स्वामी दयानन्द भारत की जनभाषा हिन्दी को **'आर्यभाषा'** के नाम से अभिहित करते थे। इस नामकरण में उनका लक्ष्य हिन्दी को समग्र आर्यावर्त्त (भारतवर्ष) की एक मात्र प्रधान भाषा के रूप में स्वीकृति प्रदान कराना था। 'आर्य' शब्द अपनी गम्भीर एवं उदात्त अर्थवत्ता के कारण एक सर्व स्वीकृत अभिधान है, इसी प्रकार आर्यावर्त्त के वासियों की भाषा को 'आर्यभाषा' कहना नितान्त समीचीन ही था।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के सार्वत्रिक प्रचार-प्रसार का जो मधुर स्वप्न महर्षि दयानन्द ने देखा था, उसे व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिये भी वे कृत-संकल्प थे। उन्होंने मौखिक प्रचार का साधन तो हिन्दी को बनाया ही, अब उनका ग्रन्थ लेखन भी हिन्दी माध्यम से होने लगा। स्वामी जी के समग्र हिन्दी वाङ्मय का भाषागत और शैलीगत अध्ययन विभिन्न विद्वानों ने किया है। यद्यपि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों में से अधिकांश ने उनकी हिन्दी सेवा का उल्लेख ईसाई-पादरियों के आक्रमण प्रधान धर्म प्रचार करने के सन्दर्भ में हिन्दूधर्म एवं रीति-नीति को सुरक्षा प्रदान करने हेतु किये गये स्वामी जी के प्रसंग में किया है, तथापि कतिपय सूझबूझवाले एवं पूर्वाग्रह मुक्त इतिहासकारों ने स्वामी दयानन्द की राष्ट्रभाषा को देन का मूल्याङ्कन तथा उनके साहित्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। सन् 1875 ई0 में प्रथम बार प्रकाशित सत्यार्थ-प्रकाश ही स्वामी जी की प्रथम हिन्दी कृति है, परन्तु उस समय तक उनका हिन्दी लेखन अधिक सशक्त, प्रवाहपूर्ण तथा व्याकरण सम्मत नहीं हो पाया था, अतः अनेक भाषागत दोषों एवं स्खलनों का रह जाना स्वाभाविक ही था। परन्तु कालान्तर में जब

उन्होंने इस ग्रन्थ का संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित किया, तो उनकी भाषा अधिक परिमार्जित, शैली अधिक प्रौढ़ तथा अभिव्यक्ति अधिक सशक्त हो चुकी थी। उनके अन्य ग्रन्थ **ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, संस्कार विधि, गोकरुणानिधि, व्यवहारभानु** तथा खण्डन-मण्डन से सम्बन्धित पुस्तकें सभी स्वामी दयानन्द द्वारा प्रयुक्त हिन्दी के उस समर्थ स्वरूप को उद्घाटित करती हैं, जो एक अहिन्दी भाषी लेखक की लेखनी से प्रसूत होने पर भी लोकभाषा की शक्तिमत्ता को तो सूचित करता ही है, लेखक के अध्यवसाय एवं परिश्रम और लगन का भी परिचायक है। स्वामी दयानन्द ने राष्ट्र भाषा का व्यवहार अपने कार्यों के लिये किया तथा अपने अनुयायियों को उसका प्रयोग करने की प्रेरणा दी। हिन्दी को बल प्रदान करनेवाले सभी प्रयत्नों का उन्होंने समर्थन किया। सन् 1882 ई0 में भारत के विद्यालयों में भाषा के अध्ययन विषयक् निर्णय लेने के लिये श्री **डब्ल्यू-डब्ल्यू हण्टर** की अध्यक्षता में एक आयोग स्थापित किया गया था। इस सम्बन्ध में देशवासियों की सम्मति लेने के लिये आयोग ने पूर्ण प्रयास किया। स्वामी जी ने अपने पत्रों के द्वारा आर्यसमाजों को यह प्रेरणा दी कि वे हण्टर कमीशन के समक्ष हिन्दी के प्रश्न को दृढ़ता के साथ प्रस्तुत करें, तथा उसे विभिन्न प्रान्तों में शिक्षा का माध्यम बनाने के लिये जोर डालें। फर्रुखाबाद आर्यसमाज के मन्त्री को उन्होंने लिखा - "यह बात बहुत उत्तम है क्योंकि कलकत्ते में इस विषय की सभा हो रही है। इसलिये जहां तक बने वहां तक शीघ्र संस्कृत और मध्यदेश की भाषा के प्रचार के वास्ते बहुत से प्रधान पुरुषों को यही कराके कलकत्ते की सभा में भेज दीजिये, और भिजवा दीजिये।" यहां मध्यदेश की जिस भाषा का उल्लेख हुआ है, वह हिन्दी ही है। अपने एक अन्य पत्र में उन्होंने फर्रुखाबाद निवासी बाबू दुर्गाप्रसाद को लिखा - "दूसरी अति शोक करने की बात यह है कि आजकल सर्वत्र अपनी आर्यभाषा के राजकार्य में प्रवृत्त होने का अर्थ (भाषा के प्रचारार्थ जो कमीशन हुआ है) उसमें पंजाब आदि से मेमोरीयल भेजे गये हैं। परन्तु मध्य प्रान्त, फर्रुखाबाद, कानपुर, बनारस आदि स्थानों से नहीं भेजे गये, ऐसा ज्ञात हुआ है। इसलिये आपको अति उचित है कि मध्यदेश में सर्वत्र पत्र भेजकर बनारस आदि स्थानों से और जहां-जहां परिचय हो, सब नगर वा ग्रामों से मेमोरियल भिजवाईये। यह काम एक के करने का नहीं, और अवसर चूके वह अवसर आना दुर्लभ है। जो यह कार्य सिद्ध हुआ तो आशा है कि मुख्य सुधार की एक नींव पड़ जायगी।"

स्वामी जी के उक्त पत्रों से हिन्दी के प्रति उनके हार्दिक भाव स्पष्ट विदित हो जाते हैं। वे हिन्दी के प्रचार को मुख्य सुधार की एक मजबूत नींव मानते हैं। स्वामी जी के आदेश और प्रेरणा की आर्यसमाजों में अनुकूल प्रतिक्रिया हुई, फलतः मेरठ, मुलतान, लाहौर, फर्रुखाबाद, लखनऊ आदि की आर्यसमाजों ने कमीशन द्वारा प्रकाशित प्रश्नों का उत्तर देते हुए विभिन्न प्रान्तों में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने पर जोर दिया। हिन्दी भाषी प्रान्तों की आर्यसमाजों ने तो कमीशन के

सम्मुख हिन्दी का पक्ष रक्खा ही, पंजाब जैसे प्रान्त में जहां उर्दू, फारसी का व्यापक प्रचार था, वहां के आर्यसमाजों ने भी हिन्दी माध्यम को शिक्षा के लिये उपयोगी स्वीकार करते हुए हण्टर कमीशन के समक्ष अपनी गवाहियां प्रस्तुत कीं। लाहौर आर्यसमाज की ओर से लाला द्वारिकादास एम. ए. ने कमीशन के द्वारा प्रस्तुत प्रश्नावली का उत्तर देते हुए आर्यसमाज के शिक्षा एवं भाषा विषयक् दृष्टिकोण को स्पष्ट किया। उन्होंने अपनी गवाही में इस बात पर दृढ़तापूर्वक बल दिया कि पंजाब में उर्दू और फारसी के स्थान पर हिन्दी के अध्ययन की सुविधा प्रदान की जानी चाहिये। साथ ही फारसी लिपि को दोषपूर्ण एवं अवैज्ञानिक बताते हुए देवनागरी लिपि के प्रचलन पर जोर दिया।

स्वामी जी हिन्दी के लिये व्यक्तिगत प्रेरणायें भी देते थे। जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह जी को लिखे गये अपने पत्र में स्वामी जी लिखते हैं – "महाराज कुमार के संस्कार सब वेदोक्त कराइयेगा। 25 वर्ष तक ब्रह्मचारी रख के प्रथम देवनागरी भाषा और पुनः संस्कृत विद्या जो कि सनातन आर्षग्रन्थ हैं, जिनके पढ़ने में परिश्रम और समय कम होवे और महालाभ प्राप्त हो, इन दोंनों को पढ़ें। तत्पश्चात् यदि समय हो तो अंग्रेजी भी, जो कि ग्रामर और फ्लास्फी के ग्रन्थ हैं, पढ़ाने चाहिये।" इससे स्पष्ट विदित होता है कि स्वामी जी बालकों के पाठ्यक्रम में हिन्दी को कितना महत्त्व देते थे। जब वेदभाष्य के अंग्रेजी और उर्दू अनुवाद की चर्चा कुछ लोगों ने उठाई, और यह मत व्यक्त किया कि यदि इस ग्रन्थ का अन्य भाषाओं में अनुवाद हो जाय तो उसका प्रचार सुकर हो जायगा, तो स्वामी जी ने इस प्रस्ताव को विरोध करते हुए हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को लिखा–

'मैं आपको यह सूचित करना आवश्यक समझता हूं कि वेदभाष्य का अंग्रेजी अथवा अन्य किसी देशी भाषा में उसके समाप्त होने के पूर्व अनुवाद नहीं होना चाहिये, क्योंकि यदि उसका अनुवाद अंग्रेजी या उर्दू में हो गया, तो उससे लोगों को संस्कृत पढ़ने की प्रेरणा नहीं मिलेगी, और वे समझेंगे कि संस्कृत और हिन्दी भाषा का अध्ययन किये बिना ही वे वेदभाष्य पढ़ने का अपना उद्देश्य पूरा कर सकता है। इसलिये पहले यह भाष्य संस्कृत और हिन्दी में पूरा होने दीजिये। यही बात श्रीमती एच. पी. ब्लैवैट्स्की को लिखे अपने पत्र में भी स्वामी जी ने दोहराई। निष्कर्षतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि स्वामी जी देश के व्यापक हित में हिन्दी के प्रचार और प्रसार को अत्यन्त आवश्यक समझते थे। जिस समय उदयपुर में पं0 मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने स्वामी जी ने प्रश्न किया कि भारत की सम्पूर्ण जातीय उन्नति कब होगी, तो उसके उत्तर में स्वामी जी ने अत्यन्त स्पष्टभाव से कहा कि जब तक समस्त देशवासी एक ही धर्म, एक भाषा तथा एक ही प्रकार आचार-विचार एवं ध्येयवाले न बन जायें, तब तक उन्नति असंभव है। निश्चय है राष्ट्रीय एकता की सिद्धि में राष्ट्रभाषा का कितना योगदान हो सकता है, यह स्वामी जी को भलीभांति विदित था।

❑

संसार की बड़ी शक्ति - "प्रेम"

प्रो० गोपाल हरि
(नई दिल्ली)

संसार में सबसे बड़ी शक्ति प्रेम की शक्ति है। वह पुरुष जो सर्वदा दूसरों की त्रुटियों की तरफ ध्यान देता रहता है, वह कभी सर्वप्रिय नहीं हो सकता। जो स्त्री चिड़चिड़े स्वभाव की है, और वह सर्वदा अन्यों को घृणा की दृष्टि से देखती है, उसका अपने पति तथा अपने सन्तान पर भी प्रभाव नहीं के बराबर है। एक दुष्ट स्वभाव बालिका न केवल अपने परिवार की शान्ति को भङ्ग करती है, प्रत्युत् पड़ौसियों के लिये भी वह आपत्ति का रूप बन जाती है। यदि कोई पुरुष है, जिस पर दया की जानी चाहिये, तो वह वही व्यक्ति है जो अपने स्वभाव पर अधिकार जमाने में असमर्थ हो चुका है। वह घर नरकधाम है, जहां नव-विवाहित लड़की बुरे स्वभाव से आच्छादित है। वह लड़की जिसका स्वभाव शान्त है, जो संयमी है, चाहे वह कुरूप क्यों न हो, पत्नी बनाये जाने के योग्य है, अपेक्षा उस लड़की के जो विदुषी है एवं सुन्दर है, परन्तु स्वभाव में कठोर तथा निर्दयी है। प्रेमयुक्त स्वभाव का अर्थ अनुरूपता है।

"समत्वं योग उच्यते"

अनुरूपता का ही नाम योग है। जो पुरुष वा स्त्री सब अच्छी वा बुरी अवस्थाओं में एक रस रहते हैं, स्वास्थ्य-दीर्घायु तथा आनन्द उन्हीं के भाग में है। प्रत्येक वैद्य इस बात को समझता है कि दुस्स्वभाव होने से आयु अल्प हो जाती है। केवल आयु ही कम नहीं होती, परन्तु दुःस्वभाव के चिह्न हमारी आंखों तथा मुख पर दृष्टिगोचर होने लगते हैं। सौन्दर्य और माधुर्यता का दुस्स्वभाव के साथ द्वेष है। कई विद्वानों की राय है कि एक बार का क्रोध एक वर्ष की आयु को कम करने में पर्याप्त है। इसलिये समावस्था ही प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिये। **"Harmony is health, longevity and happiness"** समाना-वस्था तथा अनुरूपता शारीरिक तथा मानसिक व्यवस्था का नाम है।

दु:ख है कि वर्तमान शिक्षणालयों में इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। जीवनरूपी जल को सोमरस में परिवर्तित करने का सौभाग्य उन्हीं पुरुषों को प्राप्त हुआ है, जो प्रेम की लताओं से अपने घर को सुसज्जित कर रहे हैं। उन उदार हृदयों की उपस्थिति ही पतित मनुष्यों के लिये एक सहारा है। उनकी किसी घर में प्रवेश ही अन्धकार को दूर करने में समर्थ है। वे सूर्यरूप हैं, जो प्रेम-समता तथा आनन्दरूपी किरणों के स्वामी हैं। उनकी मुस्कराहट जादू का काम देती है। वे किरणें सारी व्यथा तथा निराशा और अन्धकार को दूर करनेवाली हैं। मनुष्यत्त्व तथा स्वीत्त्व की प्राप्ति का एक मात्र साधन प्रेम है। दूसरी ओर अन्य प्रकार के लोग हैं, वे

विपरीत स्वभाव रखते हैं। उनको देखते ही लोगों को पसीना आने लगता है। वे निष्ठुर तथा जिद्दी स्वभाव के होते हैं। उनके प्रति किसी का स्वतः आकर्षित होना असंभव है। वे दूसरों की फबतियां उड़ाते हैं, ताना मारना उसके स्वभाव में प्रविष्ट हो चुका है। निराशा की ध्वनि उनके हृदय में गूंजती रहती है। सामान्य पुरुष उनसे बातचीत करने में भी संकोच करता है।

प्रेम से प्रेरित हृदय ही उदार हो सकता है। उदारता प्रेम की सहेली है। जो कंजूस है, मक्खीचूस है, वह प्रेम से कोसों दूर है। **'Hard & lose; Give & increase; this is the universal law of growth".** जो जमा करता है, वह खोता है, जो देता है, उसका ऐश्वर्य बढ़ता है। यह सार्वभौमिक नियम है। एक उदारात्मा ने कहा था कि उसका वही ख़जाना जमा है, जो उसने दूसरों को दिया है, और जो उसने अपने लिये जमा किया है। और केवल स्वार्थ के लिये अपने पेट के पालने के लिये रखा हुआ है, उसका कोई भरोसा नहीं, उसे नष्ट ही समझो। भगवान् ने अर्जुन से पूछा कि ईश्वर-भक्त किसे कहते हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया **"सर्व भूतहिते रतः"** जो दूसरों के हित तथा कल्याण में रत रहता है, वही ईश्वरभक्त है। जिसने सब कुछ दूसरों के अर्पण कर रखा है, उसे ही समझो कि वह अपनी पूंजी को बढ़ा रहा है। व्यायाम करते समय शक्ति का क्षय होता है, परन्तु उससे चार गुणा शक्ति प्राप्त होती है। जो शक्ति के क्षीण होने के भय से व्यायाम करने से डरता है, उसकी वह शक्ति भी जो उसके पास मौजूद है, ले ली जाती है। हज़रत ईसा ने ठीक कहा था - "मुबारिक हैं वे लोग जो ग़रीब हैं, क्योंकि ईश्वर का ख़जाना उनके लिये हर समय खुला हुआ है।"

"पचन्ति आत्मकारणात्"

वे महानुभाव जो केवल अपना ही पेट पालते हैं और दूसरों के हित के लिये एक कौड़ी भी व्यय करने के लिये तैयार नहीं, वे अपने लिये अपने ही हाथों से पाप की कब्र खोद रहे हैं।

"Selfishness is self-destruction" स्वार्थ आत्मघात का वाचक है। वह व्यक्ति जो लेना ही जानता है और देना नहीं जानता, उसकी जवानीरूपी फूल की कली मुरझानेवाली है। मुरझाया हुआ फूल छोटा, निकम्मा और फैंकने के योग्य समझा जाता है। वह व्यक्ति निर्जीव है। सहानुभति, प्रेम तथा उदारता से शून्य हो चुका है। उसकी हमदर्दी का स्रोत सूख चुका है, उसके अन्दर उच्च भावनाएं उत्पन्न नहीं हो सकतीं। वह इतना संकुचित और बदबूदार हो चुका है कि कोई पुरुष उसके पास बैठकर बातचीत करना भी गंवारा नहीं करता। दूसरे का भला करना, रास्ते में जाते हुए ग़रीब अपाहिज़, लूले-लंगड़े को उत्साहित करना, नौकरों, पाचकों और चपरासियों के साथ सहानुभूति का व्यवहार करना, किसी ग़रीब विधवा अनाथ के दुःख में शरीक होकर उसके दुःख को कम करना, यह चीज़ें हैं जो जीवन को उच्च तथा सुन्दर बनाती हैं। इस प्रकार उदारता भी वापसी में चार गुणा फल देने वाली होती है।

"सर्वभूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम"

सबके साथ उदारता पूर्वक और हितपूर्वक व्यवहार करना, यही भगवान् का सत्य-मत है। देना केवल धन का ही नहीं, प्रत्युत् वाणी द्वारा, मन द्वारा तथा शरीर द्वारा दूसरे के साथ सहानुभूति दिखलाना भी धन देने के तुल्य है। धन देनेवाले को ही केवल दानी नहीं कहते हैं, प्रत्युत् वह भी दानी है जो मधुर शब्द को बोलता हुआ दूसरों की सेवा करता है। वह भी दानी है, जो स्वच्छतापूर्वक व्यवहार करता है। **"The more you give, the richer you will grow"** जितना अधिक दोगे, उतने ही अधिक ऐश्वर्यवान् बनोगे। ❐

इन्सान बनकर जी

एक दिन ही जी, मगर इन्सान बनकर जी॥
आपदा आयें भले ही, मत छोड़ना संकल्प अपने।
हो सघन मत टूटने देना कहीं सुकुमार सपने।
देखना मुड़कर भला क्या ? पंख बींधे कंटकों को।
मत कभी देना महत्ता, मार्ग व्यापी संकटों को।
एक दिन ही जी, सकल अभियान बनकर जी।
एक दिन ही जी..... ॥1॥

एक छोटी नाव उसके ही सहारे पास जाना।
हो भले तूफान राही ! सोचना मत, जूझ जाना।
कष्ट सहकर भी स्वयं इस विश्व का उपकार कर जा।
छोड़ जा पदचिह्न अपने तीर्थ नव निर्माण कर जा।
एक दिन ही जी, जगत् की शान बनकर जी।
एक दिन ही जी.... ॥2॥

चमक बिजली-सा गगन में जब कभी छायें घटायें।
बन अडिग चट्टान तुझसे आंधियां जब जूझ जायें।
कुछ नहीं कठिनाईयां विश्वास की ज्वाला जला लें।
युग नया निर्माण करने की अटल सौगन्ध खा लें।
एक दिन ही जी, मगर वरदान बनकर जी।
एक दिन ही जी.. ॥3॥

पेट के कीड़ों की मारक औषधियां

आचार्य श्याम

(1) यदि आप ताजी छाछ के साथ अजमायन का चूर्ण प्रयोग करें, तो पेट के कीड़े नष्ट हो जाते हैं। ताजे पानी के साथ अजमायन का चूर्ण खाने से पेट के दर्द में लाभ मिलता है।

(2) पान के अर्क में शक्कर मिलाकर पिलाने से पेट के कीड़े समाप्त हो जाते हैं।

(3) ककरोंदे के रस को यदि पीया जाये, तो भी पेट के कीड़े समाप्त हो जाते हैं।

(4) प्रतिदिन लाल टमाटर काला नमक और काली मिर्च के चूर्ण के साथ खाने से पेट के कीड़े समाप्त हो जाते हैं।

(5) आम की गुठली को भूनकर खाने से भी पेट के कीड़े समाप्त हो जाते हैं, साथ में पेट का दर्द भी समाप्त हो जाता है।

(6) तुलसी की मंजरी का चूर्ण वायविडंग के चूर्ण में मिलाकर पानी के साथ खाने से पेट के कीड़े समाप्त हो जाते हैं।

(7) नीम के पत्तों का रस प्रातः-सायं पिलाने से पेट के कीड़े समाप्त हो जाते हैं।

(8) अनार के छिलके का चूर्ण खाने से पेट के कीड़े समाप्त हो जाते हैं। यदि चूर्ण न खा सकें तो चूर्ण को पानी में उबाल कर, छानकर पी लें, पेट के कीड़े समाप्त हो जाते हैं।

(9) प्याज का रस पिलाने से पेट के कीड़े समाप्त हो जाते हैं।

(10) करेले का रस पीने से पेट के कीड़े समाप्त हो जाते हैं।

ताज़महल मन्दिर है, मस्ज़िद नहीं

सुप्रिया शर्मा
सादतपुर, नई दिल्ली

क्या ताज़महल एक प्राचीन मन्दिर है वा एक मस्ज़िद, यह विवाद आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है। मुसलमान इसको अपना बतलाने का प्रयत्न करते हैं, जबकि कुछ हिन्दू विद्वान् इसको प्राचीन मन्दिर मानते हैं, जिसमें मुस्लिम शासक शाहजहां ने कुछ परिवर्तन करके इसको मस्ज़िद का प्रारूप देने का प्रयत्न किया, फिर भी वह इसको पूर्णरूप से मस्ज़िद नहीं बना सका, इसके लिये कृपया आप निम्न बिन्दुओं को पढ़ें और विचारकर स्वयं निर्णय करें कि ताज़महल मन्दिर है या मस्ज़िद ?

* क्या किसी मुस्लिम की लाश को इस्लाम के अनुसार दूसरी वा तीसरी मंज़िल में दफनाया जा सकता है ?

* संसार में जितने भी मकबरे हैं उन सबका मुंह मक्का की ओर होता है अर्थात् पश्चिम की ओर, जबकि ताजमहल का मुंह दक्षिण की ओर है ?

* यदि शाहजहां ने अपनी पत्नी की याद में ताज़महल बनवाया था, तो उसका नाम मुमताज़ महल नहीं था, असली नाम था - मुमताज़ उल जमानी ?

* अमेरिकन वैज्ञानिक मर्विन मिलर ने ताज़महल के एक द्वार के कुछ नमूने लेकर टेस्ट किया तो उसने कहा कि इसका निर्माण बाबर से भी सैकड़ों वर्ष पुराना है।

* ताज़महल में कब्र के चारों ओर अनेकों कमरे बने हुए हैं, जिनको अनेक वर्षों से बन्द रखा हुआ है, क्यों ?

* ताजमहल के पीछे यमुना नदी बहती है, जिस पर बने घाट की फोटो 19वीं शताब्दी में एक अंग्रेज अधिकारी ने खींची थी, उसको अब क्यों समाप्त कर दिया गया ?

* ताज़महल के पत्थरों की चित्रकारी में अनेकों स्थानों पर गणेश जैसी आकृतियां बनी है, यदि मन्दिर नहीं तो ऐसा क्यों ? अनेकों स्थान ऐसे हैं जिनको दर्शनार्थियों को देखने नहीं दिया जाता, उन स्थानों पर ताले जड़े हुए हैं, क्यों ?

* ताज़महल को जयपुर के राजा से शाहजहां ने प्राप्त करने के लिये एक पत्र लिखा था, वह पत्र आज भी वहां के किले के संग्रहालय में विद्यमान है। यदि ताज़महल प्राचीन मन्दिर नहीं था, तो उसको प्राप्ति के लिये पत्र क्यों लिखा गया ?

* ताज़महल का विशाल चबूतरा वास्तव में मन्दिर की दूसरी मंजिल है, जिसके मुख्य द्वार को शाहजहां ने सीढ़ियां बनवाकर छुपा दिया। आज भी सीढ़ियों के पीछे दीवाल पर बनी नक्काशी को सीढ़ियों से छुपा हुआ देखा जा सकता है, क्यों ?

* ताज़महल के शीर्ष पर वैसा चन्द्रमा बना है जैसा शिव के मस्तक पर दीखता है। उसमें

कलश पर आम के पत्तों पर रखे नारियल की आकृति है, जिसे हिन्दू लोग कलश प्रतिष्ठत करते समय तैयार करते हैं, जब इस्लाम में इसका प्रयोजन ही नहीं, तो यह आकृति क्यों ?

* प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो0 पुरुषोत्तम नागेश ओक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'ताज़महल एक मन्दिर'** में मन्दिर होने के अनेकों प्रमाण दिये हैं, उनका कोई सटीक उत्तर क्यों नहीं देता ?

* आगरा जाटों की नगरी है। जाट लोग भगवान् शिव को तेजाजी के नाम से भी मानते हैं। आगरा भरतपुर राजस्थान में अनेकों तेजा मन्दिर वर्तमान में भी देखे जा सकते हैं। इनकी पूरी की पूरी सूची **"The Illustrated Weekly of India"** के जाट-विशेषाङ्क (28 जून 1971) में लिखी हुई है, जिसके आधार पर भगवान् शिव के लिंगों में एक तेजलिंग का भी वर्णन है ? जिससे यह सिद्ध होती है कि जाट कौम तेजलिंग की भी पूजा करती रही है। जिनमें निम्न प्रमाण हैं -

1. वीर तेजा मन्दिर जोधपुर, राजस्थान जाट समाज जोधपुर द्वारा संचालित किया जाता है।

2. वीर तेजा मन्दिर, नई मंडी घडसाना अनूपगढ़ (गंगानगर) राजस्थान में विद्यमान है।

3. वीर तेजाजी मन्दिर, बोरा राजगढ़ मध्यप्रदेश।

4. तेजाजी मुक्तिधाम मन्दिर सुरसुरा।

5. तेजाजी चौक टेम्पल, भीलबाड़ा राजस्थान।

6. तेजाजी मन्दिर, समीप जाट विलेज मेगार्दा पोस्ट दीपावास, तहसील रायपुर, पाली, राजस्थान।

7. वीर तेजाजी नामक एक राजस्थानी फिल्म जो सन् 1982 में बनी थी, जिसमें वीर तेजाजी को भगवान् शङ्कर का परमभक्त तथा अत्यन्त पराक्रमी प्रस्तुत किया गया था।

8. विश्व-हिन्दू-परिषद् ने 5 अप्रैल सन् 2005 को राडार तकनीक से ताज़महल की जांच प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों से कराने की मांग की थी, और अयोध्या में राडार तकनीक के माध्यम से कुछ सबूत एकत्रित कर हाईकोर्ट में भी प्रस्तुत किये थे। उसी तर्ज पर आगरा का मामला भी ए. एस.आई. को पत्र लिखकर डॉ0 तोगड़िया ने उठाया था और यह सिद्ध किया था कि ताज़महल शाहजहां से 400 वर्ष पुराना है।

इस पर उत्तर-प्रदेश के सुन्नी वक्फ़ बोर्ड से आपत्ति दर्ज की थी। यह समाचार पी.टी.आई. न्यूज़ ऐजेन्सी के माध्यम से **"Outlook"** मेग्ज़ीन में भी छपा था, पर उसका आजतक कोई निर्णय नहीं हुआ।

उपर्युक्त बिन्दुओं पर विचार करने के बाद आप यह अवश्य सुनिश्चित कर सकते हैं कि ताज़महल शाहजहां ने नहीं बनवाया था, बल्कि यह उससे पूर्व का बना हुआ हिन्दू मन्दिर है, जिसे **पी. एन. ओक** नामक इतिहासकार ने **'तेजोमहालय'** नाम दिया है। भारत ने जो मुस्लिम व अंग्रेजी काल में जो सहा, उस काल में हमारे इतिहास को, हमारी धरोहर को पूर्णरूप से नष्ट करने का प्रयास किया गया, उसी का परिणाम है कि अनेकों मन्दिरों को मस्ज़िद का रूप देकर उन्हें अपना बताने का झूठा प्रयत्न किया जाता रहा। शोक है वह झूठ आज भी विद्यमान है, जिस पर आज पुनः विचार करने की आवश्यकता है।

❐

जीवन में समर्पण का महत्त्व

तारा शर्मा (प्रधान)
धर्म संवर्द्धिनी सभा - दिल्ली

मनुष्य जीवन में 'समर्पण' शब्द का बड़ा महत्त्व है। समर्पण शब्द सम् उपसर्गपूर्वक अर्प् धातु से ल्युट् प्रत्यय करके बनता है, जिसका अर्थ है - देना, सौंपना, समर्पित करना। वैसे इन शब्दों को कहना-सुनना जितना आसान है, आचरण में उतना ही कठिन है। क्योंकि अपने अहम् को मिटाकर त्यागभाव से निष्काम कर्म करते उसके फल की किंचित् भी इच्छा न रखना **"समर्पण"** कहलाता है। परिवार में पति-पत्नी के बीच में जब समर्पण का भाव होता है, तब अपने अस्तित्त्व की परवाह न करते हुए केवल दूसरे को सुख प्रदान करने की इच्छा करना एक-दूसरे के प्रति समर्पण कहलाता है। यदि किसी पति-पत्नी में इस प्रकार का भाव जागृत हो जाये, तब वहां अभाव होते हुए भी चारों ओर भाव ही भाव दिखाई देता है। जहां अभाव होता है, वहां शङ्का, सन्देह, भ्रम, भय, ग्लानि आदि विकारों का जन्म होता है, और जहां पर भाव उत्पन्न होता है, वहां प्रेम, सुख, हर्ष, आनन्द तथा समर्पण आदि गुण उत्पन्न होते हैं।

यही सूत्र सामाजिक क्षेत्र में भी कार्य करता है। सामाजिक कार्य करनेवाले के मन में जब समाज के प्रति प्रगाढ़ प्रेम हृदय में स्थिर हो जाता है, तो वह स्वयं कष्ट में भी रह करके सामाजिक कार्यों को करने में शिथिल नहीं रहता। क्योंकि तब उसे स्वयं कष्ट में कार्य करने के बाद भी आन्तरिक आनन्द की अनुभूति होती है। कई लोग मुझसे पूछते हैं - बहिन जी ! आपका स्वास्थ्य आपको सेवा करने की अनुमति नहीं देता, फिर भी आप सेवा के कार्य में संलग्न रहती हैं, आपको इससे क्या मिलता है ? आपके इस कार्य में धन और प्रतिष्ठा कुछ भी नहीं है, फिर भी आप यह कार्य क्यों करती हैं ? मैं ऐसे लोगों को उत्तर देते हुए कहती हूं कि - बिना फल की इच्छा करते हुए काम करनेवाले को परमात्मा की कृपा से विशेष आन्तरिक-आनन्द की प्राप्ति होती है। पर यह तब ही सम्भव है, जब आप निष्काम भाव से सेवा करें। जब किसी कार्य में हमारी जितनी-जितनी कामना जुड़ती जाती है, उतना-उतना उस कार्य का आनन्द भी कम होता जाता है। सकाम कर्म करना आसान है। सारी दुनियां सकाम कर्म कर रही है, और उसी के अनुरूप फल भी पा रही है, पर सब कुछ भौतिक सुख के साधन होते हुए भी वह उस सुख को प्राप्त नहीं कर पा रहा, जिसकी लिए उसकी आत्मा भूखी है। इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर है कि - आप सकाम के स्थान पर निष्काम कर्म करने की कोशिश करके देखें, फिर अनुभव करके देखें कि जिस बाह्य सुख से आपकी तृप्ति नहीं हो रही थी, अब आपको कुछ तृप्ति का

अहसास हो रहा है। इसलिये निष्काम कर्म करना ही मनुष्यता का प्रमुख लक्षण माना गया है। इसलिये कहा है -

किसी के काम आये जो उसे इन्सान कहते हैं।
पराया दर्द अपनाये उसे इन्सान कहते हैं ॥

यदि मनुष्य जन्म प्राप्त करके ही हम अपने स्वार्थ के लिये कार्य करते रहे, तो फिर पशुओं और मनुष्यों में क्या अन्तर हुआ ? यदि परमात्मा ने हमें बुद्धि-विवेक तथा विशेष सामर्थ्य प्रदान किया है, तो हम स्वयं खाने से पहले किसी भूखे को खिलाकर देखें, वस्त्रहीन को वस्त्र पहनाकर देखें, आपको ऐसा लगेगा कि खाने या पहनने का सुख अलग है और खिलाने व पहिनाने का सुख अलग है। एक सुख बाहर का है और दूसरा सुख अन्दर का है। बाहर का सुख अधिक देर नहीं टिकता। अन्दर का सुख हृदय में सदा टिका रहता है, इसलिये इसको **'आनन्द'** कहा जाता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में इसी समर्पण शब्द के भाव को **'ईश्वर-प्रणिधान'** कहा गया है। महर्षि पतञ्जलि के योग शास्त्र के दूसरे पाद के प्रथम सूत्र में प्रयुक्त हुए शब्द **'ईश्वर-प्रणिधान'** की व्याख्या करते हुये महर्षि वेदव्यास जी लिखते हैं -

"ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा"

अर्थात् - सर्व क्रियाओं का उस परमगुरु परमात्मा के प्रति अर्पण करना और उनके फल की इच्छा का त्याग करना अर्थात् निष्काम कर्म करना ही ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है।

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि आप ईश्वर-प्रणिधान कहें, निष्काम-कर्म कहें या समर्पण कहें, सबका भाव एक ही है। जब ऐसा भाव किसी साधक में स्थिर हो जाता है, तभी उसका संन्यास सार्थक होता है। संन्यास केवल गेरुवे वस्त्र पहनने का नाम नहीं है, संन्यास तो वृत्ति से होना चाहिये, संन्यास कर्म से होना चाहिये। केवल वस्त्र से जो संन्यास लेता है, वह न तो अपने जीवन का उत्थान करता है, न समाज का और न अपनी आत्मा का। हो सकता है कि वह झूठा संन्यास लेकर संन्यासवर्ण को कहीं बदनाम न कर रहा हो। संन्यास तो वास्तव में कर्म से होना चाहिये। तभी तो श्रीमद् भगवत्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को संन्यास-योग का उपदेश देते हुए कहते हैं -

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥

(गीता 18/2)

अर्थात् - पण्डित जन तो काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं, परन्तु विज्ञजन साधक सब कर्मों के फल के त्याग को संन्यास कहते हैं।

जब ऐसा अभ्यास किसी मनुष्य का बन जाता है, तब वह केवल व्यक्तिगत उन्नति ही प्राप्त नहीं करता, वरन् सामाजिक व आत्मिक उन्नति को भी प्राप्त करता है। इसलिये यदि वास्तविक सुख प्राप्त करने की आपकी इच्छा है तो समर्पण भाव से राष्ट्र-समाज-परिवार व अपनी आत्मा के प्रति निष्काम कर्म करो, अवश्य की आनन्द की प्राप्ति होगी।

❐

* शिक्षादान ही महादान *

यदि आप चाहते हैं कि हमारे देश का प्रत्येक बालक साक्षर बने, तो इस साक्षरता के अभियान में आप हमारा सहयोग करें। आज शिक्षा का भी औद्योगीकरण हो गया है। जो व्यक्ति समर्थ हैं, वे अपने बालकों को उच्च से उच्च शिक्षा दिलवाने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखते। पर हमारे देश में ऐसे भी अनेकों लोग हैं, जो धनाभाव के कारण अपने बच्चों को न तो शिक्षा दिलवा पाते हैं और न किसी प्रकार के संस्कार। उनके बच्चे बाल-मजदूरी की चक्की में पिसने को मजबूर हैं। हमारा विश्वास है कि यदि आप हमें अपनी कमाई में से कुछ भाग सहयोग-राशि के रूप में हमारे पास भेजने का प्रयत्न करें, तो हम कुछ बच्चों को अवश्य ही शिक्षित करने का प्रयास कर सकते हैं। जो बच्चे धनाभाव के कारण नहीं पढ़ पाते, उनके लिए यदि आपका आर्थिक सहयोग हमें मिलता रहे, तो हम अपनी योजना "बाल चरित्र निर्माण योजना" के अन्तर्गत उन्हें श्रेष्ठ गुरुकुलीय शिक्षा दिलवाने का प्रयत्न कर सकेंगे।

इस कार्य में एक बच्चे की शिक्षा पर कम से कम 12,000 (बारह हजार) रुपये का वार्षिक व्यय होता है। आप यदि हमारे साथ इस ज्ञान-यज्ञ में अपनी भागादारी निभाना चाहते हैं, तो आप अपने सहयोग की अग्रिम धनराशि नकद या चैक/ड्राफ्ट द्वारा "बाल चरित्र निर्माण योजना" के नाम से भेज सकते हैं।

इसके अतिरिक्त जो बच्चे एम.सी.डी के स्कूलों में या प्राईवेट स्कूलों में पढ़ते हैं, यदि आप उनकी पढ़ाई के निमित्त कोई मासिक आर्थिक सहयोग करना चाहते हैं, तो उस धनराशि को भी आप हमारी संस्था के पते पर भेज सकते हैं।

- निवेदक -

आचार्य श्याम देव
(बाल चरित्र निर्माण योजना)
डब्ल्यू. जैड. - 869 बी, नारायणा, नई दिल्ली-28
दूरभाष - 09811064932, 09350733444, 09350233885
E-mail : balcharitranirmanyojna@gmail.com

सहयोगी-होता बनें

'धर्म संवर्द्धिनी सभा' (पंजीकृत) दिल्ली राज्य' विगत कई वर्षों से सामाजिक सेवा में संलग्न है। इस सभा के माध्यम से साप्ताहिक नैतिक व धार्मिक कक्षाओं का द्वारका एवं उत्तम नगर क्षेत्र में समायोजन किया जाता है। समय-समय पर बाल चरित्र निर्माण योजना के अन्तर्गत **'संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर' 'संस्कृत-संभाषण शिविर'** एवं **'योग शिविरों'** का भी दिल्ली के विभिन्न-विभिन्न स्थानों पर समायोजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त ग़रीब बालक एवं बालिकाओं के लिये आर्थिक सहायता तथा अनाथ-असहाय बच्चों के लिये गुरुकुलीय-शिक्षा का प्रबन्ध भी सभा की ओर से किया जाता है। शीत ऋतु में ग़रीब बच्चों को स्वेटर-इनर, मोजे तथा कम्बल आदि वितरित कर उनकी सहायता की जाती है।

यह सब कार्य आप सबके सहयोग से ही सम्भव है। अतः आप इस ज्ञान-यज्ञ एवं धर्म-यज्ञ में जो भी आहुति प्रदान करना चाहें, वह **'धर्म संवर्द्धिनी सभा'** के नाम से चैक/ड्राफ्ट कार्यालय के पते पर भेज सकते हैं। यदि आप नक़द राशि देना चाहें, तो आप फोन नं० **09350733444** वा **09350233885** पर सूचित करें, आपसे सेवा प्राप्त कर आपको रसीद प्रदान कर दी जायेगी। इसके अतिरिक्त **500 रु० वार्षिक** देकर भी सभा के **सहयोगी-होता** बन सकते हैं।

आशा है कि आप अपनी पुण्य-कमाई में से **'धर्म संवर्द्धिनी सभा'** का सहयोग कर, जहां सभा के कार्यों को प्रगति प्रदान करेंगे, वहां आप स्वयं भी धर्म-यज्ञ में आहुति देकर पुण्य-लाभ अवश्य प्राप्त करेंगे।

निवेदक -

आचार्य श्याम

-: कार्यालय पता :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, द्वारका, नई दिल्ली-59

Email - samvardhini@yahoo.co.in
samvardhini@gmail. com

महर्षि दयानन्द कृत साहित्य के लिये अवश्य देखें -
Website - www. dharmsamvardhini.com

हमारा उद्देश्य

(1) भारतीय योग पद्धति का प्रचार-प्रसार कर, स्वास्थ्य संवर्द्धन हेतु समय-समय पर योग शिविरों का समायोजन कर, स्वास्थ्य के प्रति जन-मानस को जागरुक करने का अभियान चलाना।

(2) हमारे सभी शास्त्र संस्कृत भाषा में हैं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति में संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा को कोई स्थान नहीं है, जबकि यह भाषा सभी विश्व की भाषाओं की जननी तथा विश्व की प्राचीनतम भाषा है। अतः इस भाषा के अध्ययन के प्रति रुचि पैदा करना तथा अध्ययन की व्यवस्था करना।

(3) सभी वर्ग के बालक-बालिकाओं के लिए 'संस्कृति-संस्कृत शिविर' का आयोजन कर, भारतीय संस्कृति के रूप में परिचय कराना; जिससे सभी जन बड़े गौरव के साथ सबके सामने कह सकें - "सा प्रथमा संस्कृति-र्विश्ववाराः" यही संस्कृति प्राचीन व श्रेष्ठतम है, जो मनुष्य का सर्वांगीण विकास करने में सक्षम है।

(4) जो बालक-बालिकायें आर्थिक परिस्थितियों के कारण शिक्षा से वञ्चित रह जाते हैं, उन्हें आर्थिक सहयोग करना, ताकि वे शिक्षा को प्राप्त कर, देश के श्रेष्ठ नागरिक बन सकें।

(5) अत्यन्त ग़रीब, विकलांग बालक-बालिकाओं एवं वृद्धजनों के उत्थान एवं स्वास्थ्य के लिए उन्हें आर्थिक सहयोग करना।

(6) वेद, धर्म व यज्ञादि के माध्यम से प्राकृतिक व सामाजिक पर्यावरण को प्रदूषण मुक्त करना।

(7) धार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन कर उन्हें जनमानस तब पहुँचाने का प्रयास करना; जिससे कि सभी मनुष्य सत्साहित्य से अपने विचारों को श्रेष्ठ बनाकर, मानवीयता के सद्गुणों को ग्रहण करने में सक्षम हो सकें।

-: कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधुविहार, द्वारका, नई दिल्ली-110059

दूरभाष - 09350733444, 09350233885 09811064932

E-mail-samvardhini@yahoo.co.in

website :- www.dharmsamvardhini.com

मूल्य - ३० रुपये मात्र